ब्रह्मनिष्ठ पण्डित श्री पीताम्बर कृत

[illegible] गार चन्द्रोदय

[illegible] एवं [illegible] संग्रह सहित)

●

[illegible] संस्कर्ता

डा० चमन लाल गौतम

[illegible]—विचार सागर, पञ्चीकरण, ब्रह्म सूत्र, [illegible]देश साहस्री, वृत्ति प्रभाकर, सौन्दर्य लहरी व उपनिषद् रहस्य।

●

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

[illegible] कुतुब (वेदनगर), बरेली (उ० प्र०)

5.3

ॐ

ब्रह्मनिष्ठ पण्डित श्री पीताम्बर कृत

विचार चन्द्रोदय

(नाराच वृत्त एवं श्रुतिषड्लिंग संग्रह सहित)

भाषा संस्कर्त्ता :

डॉ० चमनलाल गौतम

सम्पादक : विचार सागर, पञ्चीकरण, ब्रह्मसूत्र, उपदेश साहस्त्री, वृत्ति प्रभाकर, सौन्दर्य लहरी, अष्टाङ्ग योग सिद्धि, अष्टाङ्ग योग रहस्य, हठयोग प्रदीपिका, घेरंड संहिता, शिव संहिता, गोरक्ष संहिता

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब (वेद नगर) बरेली

प्रकाशक :
डॉ० चमनलाल गौतम
संस्कृति संस्थान
ख्वाजा कुतुब, वेद नगर, बरेली २४३००१ (उ.प्र)

※

संशोधित संस्करण
१९७५

※

भाषा संस्कर्त्ता :
डॉ० चमनलाल गौतम

※

सर्वाधिकार प्रकाशाधीन

※

मुद्रक :
नव ज्योति प्रेस, मथुरा

मूल्य दो रुपये पचास पैसे

दो शब्द

प्रस्तुत ग्रन्थ 'विचार चन्द्रोदय' ब्रह्मनिष्ठ श्री-पंडित पीताम्बरजी द्वारा स्वतंत्र रूप से रचा गया था। जीव ब्रह्म का भेद असत्य एवं उपाधिकृत है, इस वेदान्त-सिद्धान्त का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में विस्तृत रूप से हुआ है। 'तत्त्वं पदार्थैक्य निरूपण' नामक ग्यारहवीं कला में इस सिद्धान्त का अनेक दृष्टान्तों से निरूपण किया गया है।

इस ग्रन्थ में षोडश प्रकरण रूप षोडश कलाएं हैं, उन प्रत्येक कला में एकाएक विलक्षण प्रक्रिया संक्षिप्त रूप से की हैं, जो कि मुमुक्षुजनों के लिए ब्रह्म साक्षात्कार कराने में अवश्य सहायक होंगी। वेदान्तशास्त्र के अभ्यास के आरम्भकाल में जो-जो विषय जानने योग्य हैं, वह-वह सब इस छोटे से ग्रंथ में समाविष्ट किये गये हैं।

इस ग्रन्थ में श्रुति षड्लिग संग्रह का योग करके वेदान्त के अभ्यासियों के लिये उपनिषद् ज्ञान को सुलभ करने की चेष्टा की गई है। जो कि मुमुक्षुजनों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी। द्वैतवादियों ने वेद का अभिप्राय द्वैत में सिद्ध करने का जो निष्फल प्रयत्न किया है, उसका खण्डन करते हुए जगद्गुरु शंकराचार्य ने उपनिषद् के भाष्यों से सिद्ध कर दिया है कि 'एक परमात्म तत्व के बिना अन्य जो कुछ प्रतीत होता है, वह सब भ्रान्ति द्वारा ही प्रतीत होता है। किसी भी ग्रन्थ के तात्पर्य के शोधनार्थ उसके षड्लिग का अवलोकन आवश्यक है, इस दृष्टि से पीताम्बरजी ने श्रुति षड्लिग संग्रह में प्रत्येक उपनिषद् के षड्लिग प्रदर्शित किये हैं।

ऐसी मान्यता है कि इन षड्लिगों का श्रवण किसी श्रेष्ठ विद्वान् महात्मा के श्रीमुख से किया जाना ही उचित है। क्योंकि वैसा करने से ही वेदान्त विद्या की महत्ता का भान हो सकता है और

तभी उपनिषदों का भाष्य सहित अभ्यास करने की जिज्ञासा भी उत्पन्न हो सकती है।

'विचार चन्द्रोदय' नामक यह ग्रन्थ वेदान्त की प्रथम पुस्तिका के रूप में है। इसका नित्यप्रति श्रवण मनन रूप जितना अभ्यास किया जायगा, उतना ही वेदान्त ज्ञान बढ़ता जायगा और उसके प्रति निष्ठा की भी वृद्धि होगी। हमें आशा ही नहीं, विश्वास भी है कि मुमुक्षुजन इस ग्रंथ के द्वारा अभ्यास करते हुए ब्रह्मस्वरूप की बुद्धि को अवश्य प्राप्त होंगे।

—※—

पंडित श्रीपीताम्बरजी की जीवनी

कच्छ(सौराष्ट्र)के अंजर नामक ग्राममें पीताम्बर जी का जन्म विक्रम संवत् १९०३ ज्येष्ठ शुक्ल गंगा दशहरा के दिन एवं मृत्यु संवत् १९५६में हुई। इनके पिता पुरुषोत्तमजी के तीन पुत्र थे मूलराज पीताम्बर और लालजी। इनकी माता का नाम वीरबता था। इनका परिवार वहाँ के प्रमुख ज्योतिषियों में माना जाता था, वरन् इनके पूर्व पुरुषों में महा ज्योतिषी पंडित नरेड़य हुए उनके चार पुत्रों में चौथे पुत्र श्री-चागलाजी आसम्बीक ग्राम के ग्रामाधीश तथा महान् दैवज्ञ और सिद्ध पुरुष थे। उनके पास गंगाधर शर्मा नामक एक परम विद्वान् ज्योतिष विद्या पढ़ने के लिए आया करते थे। एक दिन चागलाजी को नींद आगई, इसलिये गंगाधरजी को जाने की अनुमति नहीं दे सके तो गंगाधर जी रात भर गुरु-सेवा करते हुए जागते रहे। प्रातःकाल चागलाजी जागे, तव उन्होंने शिष्य को यथावत बैठे और सेवा करते हुए

देखा तो उन्हें महान् दैवज्ञ होने का वर प्रदान किया, जिससे गंगाधरजी महादैवज्ञ बन गए।

चागलाजी के पुत्र दामोदरजी हुए, दामोदरजी के बड़े पुत्र लीलाधरजी के दो पुत्र थे गोपालजी और अमरजी। गोपालजी के तीन पुत्रों में पुरुषोत्तमजी मँझले पुत्र थे, जो कि पीताम्बरजी के पिता थे, उनकी मृत्यु विक्रम संवत् १९२४ में अर्थात् पीताम्बर जी की इक्कीस वर्ष की आयु थी, तभी हो गई।

पिता की मृत्यु के पश्चात् पीताम्बरजी तीर्थाटन करने लगे। उन्होंने उदासीन महात्माओं के सम्पर्क में आने के कारण उदासीन सम्प्रदाय में दीक्षा ली थी। उनके ग्रंथ पंचदशी हिन्दी टीका, विचार चन्द्रोदय, विचार सागर, श्रुतिषड्लिंग संग्रह, वृत्ति रत्नावलि, बाल बोध, मनोहरमाला टीका, वेदस्तुति टीका तथा सर्वात्मभाव प्रदीप आदि हैं। इन्होंने वेदान्त कोश, प्रमादमुद्गर प्रश्नोत्तर कदम्ब, बोध रत्नाकर, षड्दर्शन मोहजिते कथा, सदाचार दर्पण

भूमि-भाग्योदय, रूपकादर्श,संशय सुदर्शन एवं सारावलि आदि-आदि ग्रन्थों की भी रचना की थी, जो कि किंचित् अपूर्ण रहने के कारण मुद्रित नहीं हुए।

इन्होंने अपने जीवन में सदैव उदात्त चरित्र का निर्वाह किया। राग, द्वेष, मत्सर, वैर, विषमता, निन्दा,असूया आदि दुर्गुणों से रहित तथा अमानित्व अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा, सुशीलता, सौजन्य, क्रोध-रहितता, शान्ति, धैर्य, मोहशोक रहितता,आस्तिक्य, भक्ति,वैराग्य,ज्ञान और उपरति आदि अनेक सद्-गुणों से सम्पन्न रहते हुए इन महात्मा ने परमपद की प्राप्ति की थी।

विषय-सूची

नाराचवृत्त	१४
प्रथम कला—	
उपोद्घात वर्णन	१७
द्वितीय कला—	
प्रपंचारोपापवाद वर्णन	३०
तृतीय कला—	
देहत्रयद्रष्टा-निरूपण	३६
चतुर्थ कला—	
पंचकोशातीतात्म निरूपण	७०
पंचम कला—	
अवस्थात्रयसाक्षि निरूपण	८०

षष्ठ कला—
प्रपंच मिथ्यात्व वर्णन ९३
सप्तम कला—
आत्म विशेषण निरूपण ११४
अष्टम कला—
सच्चिदानन्द विशेषण वर्णन १२७
नवम कला—
अवाच्य सिद्धान्त वर्णन १३५
दशम कला—
सामान्य विशेष चैतन्य वर्णन १४१
एकादश कला—
तत् त्वं पदार्थैक्य निरूपण १५१
द्वादश कला—
ज्ञानिकर्म निवृत्ति प्रकार वर्णन १६५
त्रयोदश कला—
सप्तज्ञान भूमिका वर्णन १७०

चतुर्दश कला—

जीवन्मुक्ति विदेहमुक्ति वर्णन १७६

पंचदश कला—

वेदान्त प्रमेय वर्णन १८२

षोडश कला प्रथम भाग—

श्रुतिषड्लिंग संग्रह १८७

ईशावास्योपनिषद् लिंग कीर्तन १९५

केनोपनिषद् लिंग कीर्तन १९७

कठोपनिषद् लिंग कीर्तन १९९

प्रश्नोपनिषद् लिंग कीर्तन २०३

मुण्डकोपनिषद् लिंग कीर्तन २०५

माण्डूक्योपनिषद् लिंग कीर्तन २०७

तैत्तरीयोपनिषद् लिंग कीर्तन २०९

ऐतरेयोपनिषद् लिंग कीर्तन २१२

छान्दोग्योपनिषद् लिंग कीर्तन २१५

सप्तमाध्याय लिंग कीर्तन २१७

अष्टमाध्याय लिंग कीर्तन	२२०
बृहदारण्यकोपनिषद् लिंग कीर्तन	२२२
प्रथमाध्याय लिंग कीर्तन	२२२
द्वितीयाध्याय लिंग कीर्तन	२२४
तृतीयाध्याय लिंग कीर्तन	२२७
चतुर्थोध्याय लिंग कीर्तन	२२६
षोडश कला द्वितीय भाग—	
वेदान्त पदार्थ संज्ञा वर्णन	२३४

वस्तु निर्देश रूप मंगल

जो सुख नित्य प्रकाश विभु
नाम रूप आधार ।
मति न लखै जिहिं मति लखै
सो मैं शुद्ध अपार ।।
अब्धि अपार स्वरूप मम
लहरी विष्णु महेश ।
विधि रवि चन्द्र वरुण यम
शक्ति धनेश गणेश ।।

ॐ

मङ्गलाचरणम्

ब्रह्मनिष्ठ पंडित श्रीपीताम्बरजी कृत

॥ नाराचवृत्तम ॥

कलं कलंक कञ्जलं तमो निवारि सञ्जलं ।
गतातिचञ्चलाचलं शुशांतिशीलमुज्ज्वलम् ॥
सदा सुखादिकंदलं त्रितापपापशामकं ।
नमामि ब्रह्मधामकं सवापुरामनामकम् ॥१
समानदानदायकं भवावबाक्यसायकं ।
सुशुद्ध धीविधायकं मुनींद्रमौलिनायकम् ।
स्वसङ्गगीतगायकं व्यकं त्रिलोकरामकं ।
नमामि ब्रह्मधामकं सषापुरामनामकम् ॥२
शमक्षमादिलक्षणं प्रतिक्षण स्वशिक्षणं ।
मुमुक्षुरक्षगे क्षमं क्षमेषु वै विलक्षणम् ॥

सुलक्ष्य लक्ष्य संशयं हरं गुरं हि मामकं ।
नमामि ब्रत्तधामकं सबापुरामनामकम् ।।३
कलेशलेवंशशून्यदशेके प्रवेशकं ।
गताविशेषशेषकं ह्यशेषवेषदेशकम् ।।
परेशकं भवेशकं समस्तभूमभामकं ।
नमामि ब्रह्मधामकं सबापुरामनामकम् ।।४
सकालकालिजालभालभेदिभानभल्लकं ।
प्रभिन्नखिन्ननुन्नभाविजन्ममत्तमल्यकम् ।।
सभेदखेदछेदवेद वाक्ययूथयामकं ।
नमामि ब्रह्मधामकं सब पुरामनामकम् ।।५
भवाष्टकष्टपाशदासभावभासनाशकं ।
सुशुद्धात्त्ववुद्धतत्त्वब्रह्मतत्त्वभासकम् ।।
स्वलोकशोकशोषकं वितोसदोषवामकं ।
नमामि ब्रह्मधामकं सबापुरामनामकम् ।।६

सबंत्रुजन्मसिंधुपारकारिकर्णधारक ।
सलोभशोभकोपगोपरूपमारमारकम् ।
खबालकालवारकं समाप्तसर्वकामकं ।
नमामि ब्रह्मधामकं सबापुरामनामकम् ॥७

स्वलक्ष्यदक्षचक्षुषं स्वरूपसौख्यसंजुषं ।
कृताथचेतनायुषं गतार्थगामितस्थुषम् ।
विभोग्यजातदुर्विषं मुखं गुणालिदाभकं ।
नमामि ब्रह्मधामकं सबापुरामनामकम् ॥८

भवाटवीविहारकारि जीवपांथपारदं ।
सुयुक्तिमुक्तिहारसारदं सुबुद्धिशारदम् ।
सपीतपादकांबरो ब्रवीति तं स्वरामकं ।
नमामि ब्रह्मधामकं सबापुरामनामकम् । ९

—*—

पण्डित पीताम्वर विरचित

विचार चन्द्रोदय

प्रथम कला प्रारम्भ

उपोद्घात-वर्णन

मनहर छन्द

पुरुष इच्छा विषय पुरुषार्थं जोई सोई,
दु:खनाश सुखप्राप्तिरूप मोक्ष मानहू।
हेतु ताको ब्रह्मज्ञान सो परोक्ष-अपरोक्ष,
तामें अपरोक्ष दृढ़ अदृढ़ दो गानहू।
मोक्ष को साक्षात्हेतु दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान,
हेतु ता विचार, जीव ब्रह्म जग जानहू।

तीन वस्तु रूप जड़ चेतन दो जड़ मिथ्या,
माया ब्रह्मचित् सो मैं पीताम्बर स्यानहू ।१।

अर्थात्—पुरुषों की इच्छा का जो विषय है, वह पुरुषार्थ है। सब दुःखों की निवृत्ति और परम सुख की प्राप्ति को मोक्ष मानो। उसका हेतु परोक्ष और अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान है, इसमें जो अपरोक्ष ज्ञान है वह दृढ़ और अदृढ़ दो प्रकार का है। मोक्ष के परम हेतु दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान का हेतु जीव, ब्रह्म और जग है। इन तीन वस्तुओं में जीव और ब्रह्म जड़ और चैतन्य दो भेद हैं उनमें जीव और ब्रह्म चैतन्य तथा संसार जड़, मिथ्या एवं मायामात्र है। इस प्रकार विचार से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा उपाधि का बाध होने पर जीव भी ब्रह्मरूप ही शेष रहता है। इसलिए पीताम्बरजी कहते हैं कि मैं ज्ञानी अपने को ही चितस्वरूप ब्रह्म मानता ॥१॥

विचार चन्द्रोदय का प्रथम प्रकरण उपोद्घात रूप में कथन किया गया है तथा उपोद्घात का अर्थ

एक प्रकार की संगति है, जैसे कि—

स प्रसग उपोद्घातो हेतुताऽवसरस्तथा ।
निर्वाहकैककार्यत्वे षोढा संगतिरिष्यते ।।

किसी प्रसंग को कहने के लिए जो ज्ञानेच्छा होती है उस इच्छा को उत्पन्न करने वाले ज्ञान का विषय सामान्य संगति है। अथवा प्रतिपादन योग्य अर्थ को मन में रखकर अन्य अर्थ का प्रतिपादन करना उपोद्घात है। जैसे किसी को किसी से मठा लेना है और वह कहे कि आपकी गाय दूध देती है या नहीं ? इससे यह मानना चाहिए कि प्रतिपादन योग्य विचार को मन में रखकर उसके आरम्भ के हेतु अन्य पदार्थों का कथन उपोद्घात है।

अव ग्रन्थकार का अभिप्राय कहते हैं—पुरुषों अर्थात् जीवों की इच्छा से सम्बन्धित वस्तु को ही पुरुषार्थ कहते हैं। उसमें दो प्रकार के पदार्थ अर्थात् कारण और कार्य होते हैं,वही साधन और फल हैं। उन दोनों में कारण अर्थात् साधन की जो इच्छा

होती है वह फल के लिये ही होती है। इसलिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जो चार प्रकार के फल हैं, उनके साधन, इच्छा के विषय होते हुए भी पुरुषार्थ नहीं माने जा सकते,वरन् वे चारों स्वतः ही पुरुषार्थ हैं। यहाँ चार प्रकारके पुरुषार्थों में अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष का ही ग्रहण किया गया है, क्योंकि धर्म अर्थ और काम की इच्छा दुःख नष्ट होने और सुख मिलने के लिए की जाती है, किन्तु दुःख की अत्यन्त निवृत्ति परमानन्द रूप मोक्ष से ही हो सकती है। अतः धर्म, अर्थ, काम दुःख निवृत्ति के साधन रूप होने से मोक्ष ही उनका परम फल सिद्ध होता है। यद्यपि परमानन्द रूप मोक्ष कार्य रूप नहीं है, तथापि धर्मपूर्वक कमाये हुए धन के द्वारा प्राप्त भोगदायक एवं साधनयुक्त ज्ञान से उसकी अभिव्यक्ति होती है, इसीलिए धर्म, अर्थ, काम के फल रूप से मोक्ष का कथन करते हैं। इसीलिए कहा है कि दुःखों का समूल नाश और सत्चित्स्वरूप की प्राप्ति रूप सुख मोक्ष का

माना जाना ही उचित है। क्योंकि असत् जड़ प्रकृति में परमानन्दरूप मोक्ष का न तो भाव है, और न वह लयादि के कारण मोक्ष मानी ही जा सकती है। क्योंकि वह मोक्ष न होकर प्रलय ही है जिसमें दुःखों का अत्यन्त अभाव संभव नहीं है। ज्ञान के द्वारा मोक्षरूप की अभिव्यक्ति से उस मोक्ष का हेतु अर्थात् कारण ब्रह्मज्ञान ही है। कुछ लोग स्वर्ग, वैकुण्ठ या गोलोक आदि की प्राप्ति को मोक्ष मानते हैं, किन्तु वह भी मोक्ष नहीं है। क्योंकि स्वर्ग, वैकुण्ठ या गोलोक से पुण्यक्षय होने पर पुनः जन्म-मरण के दुःख उठाने होते हैं और जहाँ दुःख की लेशमात्र भी संभावना है, वहाँ मोक्ष कैसी ? मोक्ष तो दुःख की अत्यन्त निवृत्ति युक्त ब्रह्म रूप की प्राप्ति ही है और उस ब्रह्मरूप की प्राप्ति रूप मोक्ष का हेतु ज्ञान है। वह ज्ञान भी परोक्ष और अपरोक्ष रूप से दो प्रकार का है। अपरोक्ष ज्ञान में अविद्या का भाव और परोक्ष ज्ञान में विद्या अर्थात् सत् भाव रहता है।

क्योंकि परोक्ष ज्ञान असत् को उत्पन्न करने वाले भावों को नष्ट कर देता है। गीता में ज्ञान के तीन रूप कहे हैं – सात्विक, राजस और तामम। उनकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जिस ज्ञानसे सर्वभूतों में एक ही अविनाशी परमात्म भाव को अविभक्त और समभाव से देखा जाय वह ज्ञान सात्विक है। सम्पूर्ण भूतों में पृथक्-पृथक् दृष्टि राजस ज्ञान और अयुक्त तथा तत्वार्थ-रहित तुच्छ तामस ज्ञान है। (गीता १८।२०-२१-२२) इससे सिद्ध हुआ कि परोक्ष ज्ञान ही सात्विक ज्ञान है और जिसे ज्ञान कहना चाहिए. उसकी उत्पत्ति सत्वगुण से ही होती है। परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं दैशिक पूर्वकम्। बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत्॥ (पंचदशी प्र० १।६३) अर्थात् गुरुयुक्त, गुरुमुख से सुना हुआ परोक्ष ज्ञान, बुद्धि द्वारा किये गए पापों को अग्नि के समान जला देता है। अप्रत्यक्ष ज्ञान से अनजाने में किये गये पापों का नष्ट होना मानते हैं, किन्तु परोक्ष ज्ञान

से जाने-अनजाने में किये, अर्थात् दोनों प्रकार के पाप निवृत्त हो जाते हैं।

महान् वाक्यों के श्रवण से भी 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान हो जाता है, किन्तु वाक्य श्रवण से होने वाला ज्ञान अपरोक्ष है। अनुमान से भी अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति होती है। यदि उस ज्ञान में संशय रहता है तो वह गहरे जल में डूबते-उतराते मनुष्य के समान उसमें दृढ़ता नहीं रहती और 'संशयात्मा विनश्यति' के अनुसार वह ज्ञान मनुष्य को गर्त में धकेल देता है। किन्तु यदि उसमें दृढ़ता है तो वह भी परोक्ष ज्ञान के समान प्रामाणिक एवं हितकर रहता है। जहाँ ज्ञान है वहाँ प्रामाणिकता है, क्योंकि प्रामाणिकता से ही दृढ़ता और सर्वज्ञता हो सकती है। जो सर्वज्ञ है वह अल्पज्ञ नहीं हो सकता। यदि कहें कि यह पुरुष सिंह है तो, इस कथन में पुरुष(मनुष्य) का सिंह के समान पराक्रम प्रतिपादन करना है, न कि उसे सिंह प्रमाणित करना है। किन्तु उपर्युक्त

वाक्य का तत्वार्थ न समझने पर संशय का उत्पन्न होना स्वाभाविक है और वही संशय अज्ञान है। यदि कहें कि श्रुति में अद्वैत का प्रतिपादन हुआ है तो उसमें यथार्थ को न समझना ही संशय है। इसीलिए परोक्ष ज्ञान की महत्ता स्वीकार की गई है। जिससे कि ज्ञान पर अज्ञान का आवरण न पड़ सके।

और भी स्पष्ट करते हैं—सच्चिदानन्द ब्रह्म है, इसका जानना परोक्ष ब्रह्मज्ञान है। सद्गुरु और सत् शास्त्र के वचनों में विश्वास करने से परोक्ष ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। परोक्ष ब्रह्मज्ञान से असत्वापादक आवरण की निवृत्ति होती है। परोक्ष ब्रह्मज्ञान ब्रह्मनिष्ठ गुरु और सत्शास्त्र के अनुसार ब्रह्मरूप के निर्धारण पर पूर्ण होता है।

अब अपरोक्ष ज्ञान के विषय में स्पष्ट करेंगे। मैं सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप हूँ'अहं ब्रह्मास्मि'यह अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान हुआ। यह दृढ़ और अदृढ़ रूप से दो प्रकार का है। असंभावना या विपरीत भावना से ब्रह्मात्मा

के एकत्व का जो निश्चय हो, वह अदृढ़ अपरोक्ष ज्ञान है। कुछ मल विक्षेप के रहते हुए श्रुति के नानात्व का ज्ञान अथवा भेदवादी पुरुषों की संगति से जो भेद विषयक ज्ञान हो वह अदृढ़ अपरोक्ष ज्ञान है। इसीलिए ज्ञानी जन सत्संगति को प्रशस्त मानते हुए कहते हैं कि 'संगति कीजै साधु की हरै और की व्याधि'। अत्र अदृढ़ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान के विषय में उठी शंका का समाधान करते हैं—अदृढ़ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान से मोक्ष तो नहीं होती, किन्तु स्वर्गादि श्रेष्ठ लोकों की प्राप्ति होती है और पवित्र श्रेष्ठ कुल में अथवा किसी ब्रह्मज्ञानी के घर में जन्म होता है। गीतामें यह लक्षण 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' कह कर योगभ्रष्ट पुरुष के बताये गये हैं। अथवा वैराग्याधिक्य के कारण जीव उस देह को त्याग कर किसी श्रीसम्पन्न एवं योगी पुरुष के यहाँ जन्म लेता है। क्योंकि पूर्व जन्म का सद्भाव अथवा अर्जित सद्ज्ञान उत्तरोत्तर श्रेष्ठ घरों में उत्पत्ति का

कारण होकर जीव को मोक्ष की ओर प्रेरित करता है।

अदृढ़ अपरोक्ष ज्ञान जैसे-जसे दृढ़ता को प्राप्त होता जाता है, वैसे ही असम्भावना और विपरीत भावना मिटती जाती है। अर्थात् असम्भावना और विपरीत भावना से रहित ब्रह्मात्मा की एकता का निश्चय दृढ़ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान है। इसका हेतु गुरु मुख से महावाक्यों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप विचार है। इसका फल अभानापादक आवरण और विक्षेप रूप कार्य सहित अज्ञान की निवृत्ति होकर ब्रह्मप्राप्ति रूप मोक्ष होता है। शरीर में आत्म भाव के समान इस ज्ञान के बोध द्वारा ब्रह्म से अभिन्न आत्मा का ज्ञान उत्पन्न होजाय तभी दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान की पूर्णता होती है।

अब विचार क्या है ? इसके रूप,हेतु, फल आदि विषयक शंका का समाधान करते हैं। आत्मा और अनात्मा को भिन्न मानना ही विचार है। क्योंकि

आत्मा-अनात्मा का एकत्व बंधन का कारण होने से विचार कदापि नहीं हो सकता। इससे सिद्ध हुआ कि यथार्थ चिन्तन ही विचार है। इसका हेतु ईश्वर, वेदाध्ययन,गुरुमुख से सुने हुए महावाक्य और अपना अन्तःकरण है। इसके फल स्वरूप अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है। जब वह प्राप्ति हो जाती है, तभी उसकी पूर्णता समझनी चाहिए।

यदि प्रश्न करें कि विचार का विषय क्या है ? तो मैं कौन हूँ, ब्रह्म कौन है ? प्रपंच क्या है ? यह तीन वस्तु ही विचारणीय हैं। इन तीनमें दो अर्थात् मैं और ब्रह्म चैतन्य हैं तथा प्रपच जड़ है। चैतन्य क्या है ? इस पर कहते हैं कि ज्ञान रूप ही चैतन्य है। जो सर्व घटादि प्रपंच को जानता है तथा जिसे मन, इन्द्रिय आदि नहीं जान सकते उसी को चैतन्य समझो। अब जड़ क्या है ? इस पर प्रकाश डालते हैं। जो स्वयं को और अन्य को भी न जाने वह जड़ है। इस प्रकार अज्ञान और उसके कार्य भूत भौतिक

पदार्थं जड़ मानने चाहिए।

उपर्युक्त तीन वस्तुओं के विचार का उपयोग किस प्रकार है ? इसका समाधान करते हैं कि 'तत्त्वमसि' महावाक्य में स्थित 'त्वं' और 'तत्' पदों का वाच्यार्थं जीव,ईश्वर और उनकी उपाधि रूप प्रपंच का विचार करके जो मिथ्या है उसका त्याग करने में उपयोग है। अर्थात् चिदाभासयुक्त अन्तःकरण सहित कूटस्थ चैतन्य जीव और चिदाभासयुक्त माया सहित ब्रह्म चैतन्य ईश्वर है तथा समाष्टि और व्यष्टि रूप तीन शरीर, पंचकोश एवं तीन अवस्था आदि नाम स्वरूप प्रपंच कहाता है। इनमें जो मिथ्या जान पड़े उसका त्याग ही विचार का यथार्थ उपयोग है। इस विचार का अधिकारी वही है जो अपने को जिज्ञासु मानता हुआ सद्गुरु और सत् शास्त्र के वचनोंमें परम विश्वास करे और कुतर्क न करे। वह श्रेष्ठ जिज्ञासु अधिकारी सद्गुरु की कृपा से उपोद्घातादि प्रक्रियाओं को विचार कर 'मैं स्वयं ही

ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ब्रह्मात्मा को अपरोक्ष समझे।

उपोद्घातादि प्रक्रिया सोलह हैं, जिनमें से उपोद्घात का वर्णन इस प्रकरण में किया जा चुका, शेष का वर्णन अगले प्रकरणों में करेंगे।

द्वितीय कला प्रारम्भ

प्रपंचारोपापवाद वर्णन

मनहर छन्द

प्रपञ्चारोपापवाद करि निष्प्रपञ्च वस्तु,
ब्रह्म जानिके अवस्तु मायादिक भानिये ।
ब्रह्म-माया-सम्बन्ध रु जीव-ईश भेद तीन,
षट् ये अनादि ता में ब्रह्मानन्द मानिये ।
वस्तु में अवस्तु कर कथन आरोप बाधि,
अवस्तु वस्तु कथन अपवाद जानिये ।
गुरु के प्रसाद यह युक्ति जानि 'पीताम्बर',
तजि तम कारज आरज निज जानिये ।

अर्थात्—प्रपंच के आरोप और अपवाद के विचारद्वारा प्रपंच-रहित वस्तुको ब्रह्म और मायादि को अवस्तु समझ कर (१) ब्रह्म (२) माया, (३) ब्रह्म

और मायाका कल्पित सम्बन्ध (४) जीव,(५) ईश्वर (६) जीव और ईश्वर का भेद, इन छः अनादि वस्तुओं में ब्रह्म को ही आनन्द स्वरूप मानो। वस्तु में अवस्तु का कथन रूप जो आरोप है, उसमें अवस्तु को बांध कर वस्तु मात्र का कथन अपवाद है। पीताम्वर जी कहते हैं कि हे आर्य पुरुषो ! सद्गुरु के प्रसाद से इस युक्ति को जानकर तमोगुण के कार्यों का त्याग कर स्वयं को पहिचानो ॥२॥

यदि शंका करें कि शुद्ध ब्रह्म में प्रपंच का आरोप किस प्रकार हुआ तो उसका समाधान यह है कि अनादि शुद्ध ब्रह्म में अनादि कल्पित प्रकृति है। उस प्रकृति का ब्रह्म के साथ अनादि कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध है अर्थात् कल्पित भेद के रूप में वास्तविकता अभेद रूप सम्बन्ध है। इससे माना गया कि जिसका अभाव हो अर्थात् स्वप्न पदार्थ के समान प्रतीत हो वह कल्पित है। अब आरोप क्या है ? यह बताते हैं—ब्रह्मरूप वस्तु में अज्ञान के कार्य

रूप अवस्तु का कहना ही आरोप है,इसी को अध्यारोप भी कहते हैं।

प्रकृति के तीन विभाग हैं—(१) माया (२) अविद्या और (३) तमः प्रधान प्रकृति। इनमें शुद्ध सत्व गुण युक्त माया, मिश्रित सत्त्वगुण युक्त अविद्या और तमोगुण की प्रधानता से युक्त तमः प्रधान प्रकृति है। माया में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब अधिष्ठान और मायामय विश्वकर्त्ता ईश्वर है तथा अविद्या में ब्रह्म का प्रतिविम्ब अधिष्ठान और अविद्या युक्त भोक्ता अल्पज्ञ जीव है। इसलिए ईश्वर और जीव दोनों ही अनादि कल्पित हैं,उनमें ईश्वर की उपाधि माया एक तथा आपेक्षिक व्यापक है, तथा ईश्वर भी एक एवं व्यापक है।

जीव की उपाधिरूप अविद्या वहुत एवं परिच्छिन्न हैं, इससे जीव भी असंख्य और परिच्छिन्न हैं। यह जीव और ईश्वर अनादि होते हुए भी अविद्या जनित औपाधिक स्वरूप होने के कारण

कल्पित हैं। उनमें ईश्वर की उपाधि रूप माया एक एवं अपने कार्यों के कारण व्यापक तथा ब्रह्म की अपेक्षा से व्यापक है। सृष्टि से पूर्व प्राणियों की उपाधि रूप अविद्या प्राणियों के कर्म सहित मायामें लीन हो जाती है। सुषुप्ति में वह माया अविद्या के समान ब्रह्म से भिन्न प्रतीति के कारण सिद्ध नहीं होती, इससे यही सिद्ध होता है कि सृष्टि से पूर्व स्वजाति-विजाति के स्वगत भेद से रहित एक अद्वितीय सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही था। उस ब्रह्म ने सृष्टि के आरम्भ में जीवों के परिपक्व हुए कर्मरूप निमित्त के कारण इच्छा की कि 'एकोऽहं बहुस्याम्' अर्थात् 'मैं एक हूँ, अब बहुत होऊँ'। उस इच्छा से ब्रह्म की उपाधि रूप माया में क्षोभ अर्थात् कार्योन्मुखता की प्रवृत्ति हुई तब उस माया से आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी—यह पंच महाभूत उत्पन्न हुए। पहिले वे अपंचीकृत थे, अब पंचीकृत होगए तब उनसे समष्टि व्यष्टि रूप स्थूल

देहादि की उत्पत्ति हुई। उनमें समष्टि स्थूल सूक्ष्म कारण रूप प्रपंच का अभिमानी ब्रह्मजीव की दृष्टि से ईश्वर है। क्योंकि जीव की अपेक्षा वह समर्थ होता है। किन्तु व्यष्टि स्थूल सूक्ष्म कारण प्रपच का अभिमानी जीव है। इन दोनों में से ईश्वर सर्वज्ञ होने के कारण नित्यमुक्त तथा जीव अल्पज्ञ होने के कारण बद्ध है। इस प्रकार शुद्ध ब्रह्म में प्रपंच का आरोप हुआ।

यदि शंका होती है कि आरोप सत्य है अथवा मिथ्या ? तो उसका समाधान करते हैं कि जैसे रस्सी में सर्प की भ्रान्ति अथवा जीव साक्षी में स्वप्न तथा दपण में प्रतिबिम्ब के समान यह आरोप मिथ्या है। क्योंकि इस आरोप की उत्पत्ति अज्ञान से होती है। यदि कहें कि यह आरोप कब, कैसे हुआ तो यदि सोचें कि पुरुष के वस्त्र पर कोई दाग लग गया तो यह कब लगा, कैसे लगा ? इसके सोचने से प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। क्योंकि

वहाँ तो दाग छुटाना ही प्रयोजनीय है. इसलिए यहाँ भी आरोप की निवृत्तिका उपाय ही प्रयोजनीय है। वही करना चाहिए।

अब यह विचारणीय है कि आरोपकी निवृत्तिका उपाय क्या है ? आरोप से पहिले उसे उत्पन्न करने वाली अविद्या को नष्ट करें तो आरोप की निवृत्ति स्वयं सिद्ध है। उसका सर्व श्रेष्ठ उपाय ब्रह्मज्ञान है, जिससे माया और अविद्या दोनों का नाश होता है। ब्रह्मज्ञान से ही कार्यसहित प्रकृति तथा प्रकृति और ब्रह्म के सम्बन्ध की निवृत्ति होती है। ब्रह्मज्ञान ही जीव भाव और ईश्वर भाव अर्थात् जीव और ईश्वर के भेद तथा बन्धन को निवृत्त करने वाला एवं मोक्ष देने वाला है। इस प्रकार रस्सी में सर्प के ज्ञान का बाध होने के समान एक ही समय में सभी आरोप की निवृत्ति रूप अपवाद होता है।

—❀—

तृतीय कला प्रारम्भ

देहत्रयद्रष्टा-निरूपण

मनहर छन्द

द्रष्टा तीन देह को मैं स्थूल सूक्ष्म कारण ये,
तीन देह दृश्य अरु अनातमा मानियो।
पंचीकृत पञ्चभूत के पचीस तत्वन को,
स्थूल देह एक भोग आयतन गानियो।
अपंचीकृत भूत के सप्तदश तत्त्वन को,
सूक्ष्म देह होइ भोग साधन प्रमानियो।
अज्ञान कारण देह घटवत दृश्य एह,
पीताम्बर द्रष्टा आप जानि दृश्य भानियो॥३॥

अर्थात्—स्थूल, सूक्ष्म और कारण–यह तीन देह हैं, मैं इनका द्रष्टा चिदात्मा हूँ। यह तीन देह मुझ

द्रष्टा के दृश्य विषय हैं। इसलिए इन्हें अनात्मा मानना चाहिए। प्रथम स्थूल देहपर विचार करेंगे।

परस्पर मिश्रित पंचमहाभूत और पच्चीस तत्वों का कार्य और समूह स्वरूप एक स्थूल शरीर होता है, इसे ही सुख दुःख के भोग का घर कहो। अमिश्रित भूतोंके सत्तरह तत्वोंके समूह रूप सूक्ष्म शरीर को भोग का साधन समझो। अज्ञान जनित देह कुम्हारके घड़े के समान दिखाई देता हुआ, नाशवान होने के कारण अनात्मा है। पीताम्बरजी का कथन है कि देहों से भिन्न निज साक्षी रूप को द्रष्टा और उन देहों को दृश्य समझना चाहिए ।।३।।

'देह तीन का द्रष्टा'के विषयमें स्पष्ट करते हैं कि देह तीन प्रकार का है—स्थूलदेह, सूक्ष्मदेह और कारणदेह। इनमें पंचीकृत अर्थात् मिले हुए पंचमहाभूतके पच्चीस तत्वोंसे स्थूल देह बना है। वे पच्चीस तत्व हैं—आकाश के काम, क्रोध, शोक, मोह, भय, यह पाँच तत्व हैं, वायु के धावन, चलन, वलन,

प्रसारण और आकुंचन,तेज के क्षुधा, तृषा,आलस्य, निद्रा और कान्ति, जल के शुक्र, शोणित, लार, मूत्र और स्वेद तथा पृथिवी के अस्थि, मांस, नाडी, त्वचा और रोम—इस प्रकार प्रत्येक महाभूत के पाँच-पांच तत्व मिल कर पच्चीस हुए। इन पच्चीस तत्वोंसे ही देह बना है। पहिले जो सूक्ष्म भूत उत्पन्न हुए उनमें आकाशादि प्रत्येक भूत के दो-दो समान भाग करने से दस हुए। उनमें से सभी भूतोंके एक-एक भाग को अलग रखकर एक-एक आधे भागों के चार-चार भाग बराबर के किये गये। वे छोटे भाग उनके बड़े आधे-आधे भागों को छोड़-छोड़ कर अन्य भूतों के आधे-आधे भाग रूप चारों के चारों भूतों में मिलाये गये। इस प्रकार वे पाँचों भूत मिल कर पंचीकृत भाव को प्राप्त हुए। जैसे कहीं पाँच मित्र पृथक्-पृथक् पाँच प्रकार के मिष्ठान्नों को लेकर कहीं जाँय और खाने के समय उन मिष्ठान्नों में से आधा-आधा अपने पास रखलें और आधे-आधे के चार-

चार भाग करके परस्पर में दे-ले लें, तो इससे पाँचों के पास समान परिमाण में मिष्ठान्न रहेगा, किन्तु उनके स्वाद, गुण आदि में विशेषता रहेगी, इसी प्रकार पंचभूतोंके पंचीकृत होने पर उनमें स्थूलतादि रूप की विशेषता हो जाती है।

इसे और भी स्पष्ट करते हैं—आकाश के दो भाग किये. एक भाग पृथक् रखा और एक भाग के चार भाग कर उन्हें वायु, तेज, जल और पृथिवी में मिला दिया। फिर वायु के दो भाग किये, एक को पृथक् रख कर दूसरे भाग के चार भागों में से एक-एक भाग आकाश, तेज,जल और पृथिवीमें मिलाया फिर तेज के दो भाग किये, एक अलग रख कर दूसरे भाग के चार भाग कर एक-एक भाग आकाश, वायु, जल और पृथिवी में डाल दिया। फिर जल के दो भाग कर, एक भाग अलग रखा और दूसरे के चार भाग कर उन्हें आकाश, वायु तेज और पृथिवी में मिलाया। इसी प्रकार पृथिवी के दो

भाग कर एक तो अलग रख दिया और दूसरे भाग का चौथाई, भाग आकाश, वायु, तेज और जल के साथ मिश्रण कर दिया। इस प्रकार एक-एक के पाँच-पाँच तत्व मिलने से पचमहाभूतों के पच्चीस तत्वों का परस्पर मिश्रण होता है।

अब यह बतायेंगे कि किस-किस भूत में किस-किस भूत का कौन-कौन सा भाग है ? आकाश के जो पाँच तत्व शोकादि कहे हैं, उनमें शोक आकाश का मुख्य भाग है। क्योंकि आकाश शून्य है और शोक उत्पन्न होता है, तब शरीर भी शून्य के समान ही होजाता है। आकाश में वायु का जो भाग मिला है, वह काम है। क्योंकि वायु की चंचलताके समान काममें भी चंचलता लक्षित होती है। आकाशमें तेज का भाग क्रोध है। जैसे तेज में ताप होता है वैसे ही क्रोध भी शरीर को तपा देता है। इससे क्रोध तेज का भाग माना गया है। आकाशमें जलका भाग मोह है। क्योंकि जल की बूँद के फैलनेके समान मोह भी

पत्नी, पुत्र आदि के प्रति फैलता (बढ़ता) जाता है। इसलिए मोह को जल का भोग समझना चाहिए। आकाश में पृथिवी का भाग भय है। क्योंकि पृथिवी का स्वभाव जड़ता है और भय होने पर शरीर में जड़ता (निष्क्रियता) आजाती है। इससे भय पृथिवी का भाग सिद्ध होता है।

वायु के पाँच तत्व धावनादि में धावन वायु का प्रमुख भाग है। क्योंकि धावन का अर्थ दौड़ना है और वायु का स्वभाव ही दौड़ने का है, इसलिए धावन वायु का प्रमुख भाग होना सिद्ध होता है। वायु का तत्व चलन जलका भाग है। क्योंकि चलन का अर्थ चलना है, जो कि जल का स्वभाव है। इससे चलन का वायु का भाग मानना यथार्थ है। वलन वायुमें तेज का भाग है। क्योंकि वलनका अर्थ प्रज्वलित अथवा प्रकाशित होना है और यही स्वभाव तेज का है। इससे सिद्ध हुआ कि वलन तेज का

भाग है। वायु में प्रसारण तत्व आकाश का है। क्योंकि प्रसारण का अर्थ फैलना (विस्तार होना) है और आकाश भी फैला हुआ अर्थात् विस्तृत है। वायु में आकुंचन तत्व पृथिवी का भाग है। क्योंकि आकुंचन का अर्थ सकोच करना है और पृथिवी स्वभावसे ही संकोच को प्राप्त है,इसलिए सिद्ध होता है कि वायु का तत्व आकुंचन पृथिवी का भाग है।

तेज के क्षुधादि पाँच तत्वों में क्षुधा तेज का प्रमुख भाग है। क्योंकि क्षुधा लगने पर जो खाया जाता है, वह भस्म हो जाता है। इसी प्रकार अग्नि में जो कुछ भी डालें वही जल जाता है। इसलिए क्षुधा (भूख) को तेज का प्रमुख अंग मानना यथार्थ है। तेज का तृषा तत्व वायु का भाग है। क्योंकि तृषा अर्थात् प्यास कण्ठ को वैसे ही सुखाती है, जैसे कि वायु गीले वस्त्रोंको सुखा देता है। तेज का तत्व आलस्य पृथिवी का भाग है। क्योंकि आलस्य आने पर शरीर जड़ हो जाता है और जड़ता पृथिवी

का स्वाभाविक गुण है। इससे आलस्य पृथिवी का तत्व माना गया है। तेज का निद्रा तत्व आकाश का भाग है। क्योंकि आकाश शून्यता युक्त है और निद्रा आने पर शरीर भी शून्य हो जाता है इससे निद्रा आकाश का भाग सिद्ध होता है। तेज का कान्ति तत्व जल का भाग है क्योंकि कान्ति धूप से घटती है और जल भी धूप से घटता है। इस प्रकार कान्ति को जल का भाग समझना चाहिए।

जल के शुक्रादि पांच तत्वों में शुक्र (वीर्य) जल का प्रमुख भाग है। क्योंकि शुक्र श्वेत वर्ण का एवं गर्भोत्पत्ति का कारण है। वैसे ही जल का वर्ण भी श्वेत है तथा वह वृक्षादि के उत्पन्न करने में कारण रूप है। जल का तत्व शोणित पृथिवी का भाग है। क्योंकि शोणित (रक्त) का वर्ण लाल है और कहीं-कहीं पृथिवी भी लाल रंग की है। इससे शोणित को पृथिवी का अंश माना गया है। जल का तत्व लार आकाश का भाग है। क्योंकि लार ऊँचा-नीचा

होता है और आकाश भी ऊँचा-नीचा है। जल का तत्व मूत्र तेज का भाग है। क्योंकि मूत्र उष्ण होता है और तेज भी उष्ण है। जल का तत्व स्वेद वायु का भाग है। क्योंकि परिश्रम से स्वेद अधिक होता है तथा परिश्रममें पंखा आदि करनेसे वायु भी उत्पन्न होता है। इससे स्वेद को भाग समझना चाहिए।

पृथिवी के अस्थि आदि पाँच तत्वों में अस्थि पृथिवी का मनुष्य भाग है। क्योंकि अस्थि में जो कठिनता आदि है, वह पृथिवी में भी होती है। पृथिवा का तत्व मांस जल का भाग है, क्योंकि जल के समान माँस भी गीला होता है। पृथिवी का तत्व नाड़ी तेज का भाग है। क्योंकि नाड़ी से ताप की परीक्षा की जाती है और ताप तेज का स्वाभाविक गुण है। इससे नाड़ी को तेज का भाग माना गया। पृथिवी का तत्व त्वचा वायु का भाग है। क्योंकि त्वचा में शीत, उष्ण, कठिन या कोमल स्पर्श का अनुभव होता है और वायु का गुण भी स्पर्श है।

इसलिए इन दोनों में समानता है। पृथिवी का तत्व रोम आकाश का भाग है। क्योंकि रोम शून्य है,उसे काटें तो पीड़ा नहीं होगी। इसी प्रकार आकाश भी शून्य है। इस प्रकार यह पच्चीस तत्वों का यह विवेचन हुआ।

अव यदि शंका करें कि उक्त प्रकार से पच्चीस तत्वों के जानने का प्रयोजन क्या है? तो इसका समाधान इस प्रकार होगा कि यह पच्चीस तत्व मैं नहीं हूँ और न यह मेरे हैं। यह तो पंचीकृत महाभूतों के हैं, यह तथ्य उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। मैं इनका ज्ञाता तो हूँ, किन्तु घट को देखने वाले के समान इनसे पृथक् हूँ। जैसे घट पृथक् है और उसका द्रष्टा पृथक् है। द्रष्टा यह जानता है कि यह घट है, किन्तु वह उससे संगति नहीं करता, वैसे ही मैं संसार का द्रष्टा होकर भी संसार से भिन्न हूँ। अव कहें कि पच्चीस तत्व मैं नहीं, यह किस प्रकार जाना जा सकता है? तो उत्तर है कि

आकाश के पांच तत्वों में शोक हो तो भी, और न हो तो भी मैं उसे जानता हूँ। इससे समझना चाहिए कि शोक मैं नहीं हूँ और शोक मेरा नहीं है, वह शोक आकाश का ह' है। मैं नो केवल उस शोक का द्रष्टा हूँ। जैसे घट टूट जाय तो उसका स्वामी नहीं टूटता, क्योंकि स्वामी घट नहीं है, वरन् वह तो घट को देखने वाला है, द्रष्टा है। इसी प्रकार मैं भी शोक का द्रष्टा मात्र हूँ। इसीलिए मैं संसार का साक्षी होता हुआ भी, उससे लिप्त नहीं हूँ। यही उक्त विवेचन से जाना जाता है।

इसी प्रकार काम भो मैं नहीं हूँ, और न काम ही मेरा है, किन्तु मैं उसका द्रष्टा अवश्य हूँ। क्योंकि काम हो तो उसके होने और न हो तो उसके अभाव को भो मैं जानता हूँ। इससे स्पष्ट हुआ कि काम मैं नहीं हूँ, काम मेरा नहीं है, वरन् यह काम आकाश का है। क्योंकि मैं तो केवल काम का जानने वाला, उसी प्रकार काम से भिन्न हूँ, जिस प्रकार

कि घट और द्रष्टा भिन्न-भिन्न होते हैं। इसी प्रकार क्रोध, मोह और भय में से कोई भी मैं नहीं हूँ, और न यह मेरे हैं। जैसी कि घट और घट के देखने वाले में भिन्नता है, वैसी ही भिन्नता क्रोध, मोह या भय से मेरी है।

इसी प्रकार वायु के पाँच तत्वों के विषय में समझनी चाहिए। वायु के धावन तत्व में दौड़ना, चलन तत्व में चलना, वलन तत्व में जलना, प्रसारण में फैलना और आकुंचन में संकुचित होना—इन पाँचों में से भी मैं कोई नहीं हूँ, न यह मेरे हैं, वरन् यह सब वायु के हैं। क्योंकि मैं इनके भाव-अभाव का जानने वाला हूँ, किन्तु इनमें से किसी में भी लिप्त नहीं हूँ। जिस प्रकार कि घट, पट आदि में कुम्भकार और जुलाहे आदि घट, पट को बनाते या देखते तो हैं, किन्तु उनका उनसे ऐक्य नहीं होता, इसी प्रकार मैं इन सबका द्रष्टा तो हूँ, पर उनमें सम्बन्ध [illegible]

जाति नहीं,ऐसा कैसे कहते हो ? इसका क्या प्रमाण है ? तो यह कहा जायगा कि ब्राह्मण आदि जाति अथवा वर्ण स्थूल देहका धर्म है मुझ आत्मा या सूक्ष्म धर्म का नहीं है। क्योंकि जो आत्मा या सूक्ष्म धर्म पहले शरीर में होता है, वही दूसरे शरीर में भी रहता है, किन्तु पूर्वजन्म की जा... जन्म में भी रहे, यह निश्चय नहीं। इससे प्र... कि जाति भी स्थूल देह का ही धर्म है।

यदि कहें कि ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी तो आत्मा के धर्म हो सकते हैं ? तो इसका उत्तर है कि नहीं हो सकते। क्योंकि यह चारों आश्रम भिन्न-भिन्न कर्मों को कराने के लिए ही कल्पित हुए हैं, जो कि शरीर के लिये ही हैं। वह भी सब मनुष्यों में नहीं मिलते। इससे समझना चाहिए कि आश्रम-धर्म भी मेरे नहीं है। इसी प्रकार गौर, श्याम, लाल, पीले आदि रंग भी स्थूल शरीर के हैं, सूक्ष्मदेह अथवा आत्मा के नहीं।

इसी प्रकार पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी, माता-पुत्र आदि के जितने भी नाते हैं, अथवा लम्बा ठिगना, मोटा, कृश आदि जितने भी आकार हैं, वे सब स्थूल शरीर में ही संभव हैं। सूक्ष्म शरीर या आत्मा में न कोई नाता है और न उसका कोई आकार है, वरन् जन्म-भेद के अनुसार कभी पिता पुत्र बन जाता है तो कभी पुत्र पिता बनता है। इस प्रकार जन्म-मरण के चक्र में घूमता हुआ प्राणी न जाने कितने नाते-रिश्ते-सम्बन्ध बनाता है, जो कि पर-जन्म में बदल जाते हैं। इसलिए नाता स्थूल देह का ही धर्म हो सकता है। यही बात आकार के विषय में समझो, क्योंकि आत्मा का कोई आकार नहीं, वह तो सर्वथा निराकार है और आकार स्थूल देह में ही होता है।

यदि शंका करो कि मेरा जन्म-मरण नहीं, यह कैसे जानें तो सुनो—यदि आत्मा का जन्म मानें तो आत्मा अनित्य हो जायगा और मीमांसक से परलो-

लोकवादी तक जितने भी आस्तिक हैं, वे आत्मा का अनित्य होना स्वीकार नहीं करते । क्योंकि यदि आत्मा जन्म लेगा तो उसे मरना भी पड़ेगा । इसलिए जन्म लेना-मरना शरीर का धर्म है, आत्मा का नही है । यदि आत्मा को उत्पत्ति-मरण मानेंगे तो पूर्वजन्म में न किये कर्म से सुख-दुःख के भोग और इस जन्म में किये कर्मोंके भोगे बिना ही नष्ट होना बन जायगा यदि कर्मवादी के मत से आत्मा को कर्त्ता-भोक्ता मानलें, तो भी उसे जन्म-मरण-रहित ही स्वीकार करना पड़ेगा । फिर आत्मा के उत्पन्न होने या मरने का कोई कारण भी नहीं है । यदि कोई कारण होता तो आत्मा से भिन्न होना चाहिए था ।

आत्मा से भिन्न जो नाम, रूप आदि हैं वे रस्सी में सर्प होने की भ्रान्तिके समान कल्पित तथा अनात्मा ही हैं । इसके विपरीत, जो ब्रह्म है वह घटाकाश स्वरूप महाकाश के समान आत्मा का स्वरूप है, उस से भिन्न नहीं, इसलिए भी कारण नहीं बनता और

जब कारण नहीं तो जन्म-मरण भी संभव नहीं है। इस प्रकार आत्मामें जन्म-मरण के अभाव की सिद्धि होती है।

आत्मा में जन्म, प्राकट्य, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय और मरण—यह छओं विकार नहीं हैं। इससे मेरा जन्म-मरण नहीं है और जन्म-मरण की प्राप्ति कर्म-भोग के रूप में स्थूल शरीर को ही होती है, मुझे कदापि नहीं होती। उपर्युक्त तथ्यों से यही सिद्ध होता है।

यदि प्रश्न करो कि पंचमहाभूतों की निवृत्ति किस प्रकार हो ? तो इसको इस प्रकार समझो कि जैसे किसी को भूत लगा हो और वह किसी सिद्ध को बुला कर, डमरू बजा कर, लवणादि पाँच पदार्थ मिलाकर उसका बलिदान करने से भूत की निवृत्ति होती है,वैसे ही आकाशादि पंच महाभूत शरीर रूप होकर जीव के साथ लगते हैं, उनकी निवृत्तिके लिए ब्रह्मनिष्ठ गुरुरूप सिद्ध के शरण में जाकर शास्त्र रूप

डमरू वजाकर उपर्युक्त पच्चीस तत्वों में से पाँच-पाँच तत्व रूप बलिदान द्वारा प्रत्येक भूतोंको उसका अपना भाग अर्पण कर निश्चय करले कि मैं इन पच्चीस तत्वों का द्रष्टा हूँ। इस प्रकार पंच महाभूतों की निवृत्ति होती है। इस सबसे सिद्ध हुआ कि मैं स्थूल देह का द्रष्टा हूँ।

अब सूक्ष्म देह के विषय में विचार करेंगे। अपंचीकृत पंच महाभूतों के सत्तरह तत्वों से सूक्ष्म बना है। श्रोत्र, त्वचा, जिह्वा और घ्राण यह पाँच ज्ञानेन्द्रिय, वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और गुद यह पाँच कर्मेन्द्रिय, प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान यह पाँच प्राण, मन और बुद्धि - यह सत्तरह तत्व हैं। इनमें संकल्प-विकल्प रूप वृत्ति को मन और निश्चयात्मक वृत्ति को बुद्धि कहते हैं।

अपंचीकृत पंचमहाभूतों के विषय में पहिले बता चुके हैं। जो महाभूत पूर्वोक्त रीति से मिश्रित न हुए हों, पृथक्-पृथक् हों उन्हें अपंचीकृत कहते हैं। वे ही

सूक्ष्मभूत अथवा तन्मात्रा कहे जाते हैं। अपंचीकृत पंचमहाभूत के सत्तरह तत्व इस प्रकार समझने चाहिए—

ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में आकाश के सत्व-गुण का भाग श्रोत्र तथा रजोगुण का भाग वाक् है। श्रोत्रेन्द्रिय का कार्य शब्द को सुनना और वाक् इन्द्रिय का कार्य बोलना है। इनमें श्रोत्र ज्ञानेन्द्रिय तथा वाक् कर्मेन्द्रिय है। परस्पर दोनों की ऐसी घनिष्ठता है कि जैसे दो मित्रों में होनी चाहिए।

वायु के सतोगुण का भाग त्वचा तथा रजोगुण का भाग पाणि है। त्वचा का कार्य स्पर्श को ग्रहण करना और पाणि (हाथ) का कार्य उसका निर्वाह करना अर्थात् स्पर्श युक्त पदार्थ का ग्रहण या त्याग करना है। इनमें त्वचा ज्ञानेन्द्रिय और पाणि कर्मेन्द्रिय है, यह दोनों परस्पर घनिष्ठ मित्र के समान हैं।

तेज के सत्वगुण का भाग चक्षु (नेत्र) और रजो-गुण का भाग पाद (पाँव) है। चक्षु इन्द्रिय रूप को

ग्रहण करती (देखती) है और पाद उसके लक्ष्य पर गमन करते हैं। इनमें चक्षु ज्ञानेन्द्रिय और पाद कर्मेन्द्रिय है। यह दोनों भी परस्पर मित्र जैसे घनिष्ट हैं।

जल के सत्वगुण का भाग जिह्वा और रजोगुण का भाग उपस्थ है। जिह्वा का कार्य रस का ग्रहण करना तथा उपस्थ का कार्य रस का त्यागना है। जिह्वा ज्ञानेन्द्रिय और उपस्थ कर्मेन्द्रिय हैं। यह दोनों परस्पर मित्र जैसे हैं।

पृथिवी के सत्वगुण का भाग घ्राण तथा रजोगुण का भाग गुद है। घ्राणेन्द्रिय का कार्य गन्ध का ग्रहण करना (सूँघना) है और गुद का कार्य ग:धयुक्त मल का त्याग करना है। घ्राण ज्ञानेन्द्रिय तथा गुद कर्मेन्द्रिय है। इन दोनों में परस्पर बहुत घनिष्टता है।

अब पंच प्राण आदि के विषयमें कहते हैं—पाँच भूतों के रजोगुण के भाग मिश्रित होकर पाँच प्राण हुए, तथा सतोगुण के भाग मिलकर अन्त:करण हुआ

है। यह अन्तःकरण ही मन,बुद्धि रूप है। यहाँ चित्त और अहंकार का मन और बुद्धि में अन्तर्भाव है। इस प्रकार अपंचीकृत पंच महाभूतों के कार्य रूप सत्तरह तत्वों से सूक्ष्म शरीर बनता है। यदि चित्त और अहंकार को मन, बुद्धि से पृथक् मानें तो उन्नीस तत्व माने जाँयगे।

उक्त प्रकार सूक्ष्म शरीर के तत्वों का ज्ञान होने से प्राण तथा इन्द्रिय आदि में आत्मभाव की निवृत्ति सहज ही हो जाती है। क्योंकि सभी प्रकार का यथार्थ ज्ञान तभी होता है, जबकि उसका भले प्रकार विवेचन किया जाय, उसे ठीक प्रकार से समझा जाय। यदि यह कह दें कि मैं जन्म-मरण युक्त नहीं विकारयुक्त नहीं तो इतना कह देने भर से जिज्ञासा नहीं मिट सकती। उसके लिए उपर्युक्त पूर्ण विवेचन आवश्यक था। उसी से इसकी सिद्धि होती है कि मैं इन सत्तरह तत्वों का ज्ञाता हूं, क्योंकि ज्ञाता और ज्ञेय भिन्न होते हैं, इसलिए वे सत्तरह तत्व मुझसे

भिन्न हैं। और मैं उन तत्वों से भिन्न तथा सूक्ष्म देह का द्रष्टा हूँ। जैसे स्थूल देह के पच्चीसों तत्व मुझ से भिन्न हैं और वे सब नाशवान होने के कारण स्थूल शरीर नाशवान है। वैसे ही सूक्ष्म शरीर भी जन्म-मरण युक्त एवं दृश्य है, मैं उसे देखने वाला साक्षी तो हूँ, किन्तु उससे निर्लिप्त हूँ। वह शरीर या उसके तत्व न तो मेरे हैं और न मैं उनसे संबंधित ही हूँ, जो लोग उक्त सब को मुझमें मानते हैं, वे अविद्याके कारण भ्रम में पड़े हैं और जो इनको तर्क की कसौटी द्वारा पूर्ण विवेचन करके यथार्थता को समझ लेते हैं, उनके भ्रम की निवृत्ति होजाती है।

भ्रम की निवृत्ति होने पर ही यह स्पष्ट हो जाता है कि जैसे नृत्यशाला में स्थित दीपक, नृत्य स्थान में बैठे हुए राजा, मंत्री, सेवक, नायिका, सभासद, वाजे वजाने वाले आदि सभी दर्शकों को प्रकाशता है और उनके चले जाने पर जन शून्य नृत्यशालाको भी प्रकाश देता रहता है, वैसे ही स्थूल शरीर रूप

नृत्यशाला में मैं साक्षी रूप दीपक चिदाभास रूप राजा, मन रूप मंत्री, प्राणरूप सेवक, बुद्धिरूप नायिका, और दश इन्द्रिय और उनके विषय रूप वाजे बजाने वाले या दर्शक आदि जाग्रत्-स्वप्न में हों तब भी, और सुषुप्ति में हों तब भी इन्हें या इनके अभाव को प्रकाशता रहता हूँ। इससे सिद्ध हुआ कि मैं इन सबसे भिन्न एवं द्रष्टा मात्र हूँ।

अतः इस प्रकार भ्रम-रहित होने पर मनुष्य समझता है कि जाग्रत् अवस्था में मैं इन्द्रिय और अन्तःकरण की सहायता से प्रकाशता हूँ। वाह्य पदार्थ के जानने में वाह्य प्रकाश अर्थात् विवेचनादि की अपेक्षा होती है किन्तु मैं स्वयं ज्ञानात्मक एवं स्वयं प्रकाश हूँ, वाह्य दीपक आदि मेरा स्वरूप नहीं है। इसलिए सुषुप्ति की अवस्था में बिना किसी सहायता के ही स्वयं प्रकाशता रहता हूँ। किन्तु जाग्रत अवस्था में इन्द्रिय और अन्तःकरण दोनों की सहायता से और स्वप्नावस्था में केवल अन्तःकरण

की सहायता से प्रकाशता हूँ। इसे इस प्रकार समझ लेने से सब प्रकार का भ्रम मिट कर निश्चित बुद्धि हो सकती है।

इस विषय में एक अन्य उदाहरण देते हैं—जैसे किसी घर में पाँच खिड़कियाँ हैं, उसके भीतर तेल बत्ती से युक्त एक महा दीपक रखा है। वह दीपक घर को, घर की सभी वस्तुओं को तथा खिड़कियों के सामने बाहर की ओर जो वस्तु हों, उन्हें भी प्रकाशता है। इस प्रकार सामान्य रूप से वह बाहर भीतर सर्वत्र प्रकाश देता है। वैसे ही पंच ज्ञानेन्द्रिय के स्थान रूप द्वार युक्त शरीर में मन, बुद्धि आदिके सहित स्थित आत्मा रूप दीपक मन, बुद्धि आदि को स्वयं प्रकाशता तथा विषयोंको इन्द्रियों की सहायता से प्रकाशता है और ईश्वर रूप से ब्रह्माण्डादि सर्व बाह्य प्रपंच को प्रकाशता है। वही चैतन्य ब्रह्म के रूप में सर्व व्यापी है। इस प्रकार उपर्युक्त सत्तरह तत्व मेरे नहीं, पंच महाभूतों के सिद्ध होते हैं। मैं तो

घट द्रष्टा के समान इन सबका जानने वाला अर्थात् द्रष्टा हूँ, यह निर्णय होता है।

अब इसे और भी स्पष्ट करते हैं—पंच ज्ञानेन्द्रियों में श्रोत शब्द को सुनें या शब्द का अभाव होने से न सुनें, उन दोनों स्थितियों को जानता हूँ। इससे मैं उनका द्रष्टा सिद्ध हुआ। क्योंकि श्रोत्र मेरा नहीं, आकाश का तत्व है। मैं तो इससे घट द्रष्टाके समान सर्वथा भिन्न हूँ।

इसी प्रकार त्वचा स्पर्श को ग्रहण करे उसे मैं जानता हूँ और ग्रहण न करे तब उस ग्रहणाभाव को भी मैं जानता हूँ। यह त्वचा मेरी नहीं,वायु की है। मैं तो उसका द्रष्टा मात्र होने के कारण उससे सर्वथा पृथक् हूँ।

चक्षु रूप को देखे या न देखे,किन्तु मैं उस त्वचा को अवश्य देखता हूँ। इससे चक्षु का मुझ आत्मा से भिन्न होना सिद्ध है। क्योंकि चक्षु मेरा नहीं, तेज का है। मैं तो घट को देखने वाले के समान इससे

पृथक् हूँ। क्योंकि मैं तो इसका जानने वाला साक्षी मात्र हूँ।

जिह्वा रसका स्वाद ले और स्वाद न ले तब भी मैं उसे जानता हूँ। इससे स्पष्ट है कि मैं जिह्वा नहीं हूँ और न जिह्वा ही मेरी है, वरन् जिह्वा तो जल की है। मैं घट-द्रष्टा के समान इसका द्रष्टा एवं इससे सर्वथा भिन्न हूँ।

घ्राण गन्ध को ग्रहण करे उस समय भी और ग्रहण न करे उस समय भी मैं उसे जानता हूँ। इससे स्पष्ट होता है कि मैं घ्राण नहीं, और न वह मेरी है, वरन् पृथिवी की है। मैं तो इसे देखने-जानने वाला और उससे बिल्कुल ही अलग हूँ।

उक्त विवेचन पाँच ज्ञानेन्द्रिय का हुआ,अब पाँच कर्मेन्द्रियों के विषय में कहते हैं—वाक् बोले उस समय भी और न बोले उस समय भी मैं उसे जानता हूँ। वाक् मेरी नहीं, आकाश की है। मैं तो घटद्रष्टा के समान इसे देखने वाला तथा उससे पृथक् हूँ।

पाणि (हाथ) कार्य करें उसे भी और न करें उसे भी मैं जानता हूँ। इससे हाथ मेरे नहीं, वरन् वायु के हैं। जैसे घट-पट का देखने वाला उसका साक्षी और द्रष्टा होता है, वैसे ही मैं इसका देखने वाला साक्षी, किन्तु उससे भिन्न हूँ।

पाद (पाँव) चलें अथवा न चलें, मैं उन्हें दोनों स्थितियों में जानता हूँ। और जो जिसे जानता है, वह उससे भिन्न होना चाहिए, इसलिए मैं इसका द्रष्टा तो हूँ किन्तु स्वयं वह नहीं हूँ, वरन् पाद मेरे नहीं, तेज के हैं। मैं तो इनका द्रष्टा और केवल ज्ञाता हूँ।

उपस्थ मूत्र और शुक्र का त्याग करे, तब भी और न करे तब भी मैं उसे जानता हूँ। इससे उपस्थ मेरा नहीं, जल का होना ही सिद्ध होता है। क्योंकि जानने या देखने वाला तो देखी गई वस्तु से भिन्न ही होता है। इस प्रकार मैं उसका द्रष्टा तथा उससे भिन्न है।

गुदा मल के विसर्जन समय अथवा विसर्जन न करे, उस समय भी मैं इसे जानता हूँ। इससे स्पष्ट हुआ कि मैं उसका द्रष्टा मात्र हूँ, वह मेरा नहीं पृथिवी का भाग है। मैं तो उससे भिन्न एवं घट-पट के देखने वाले के समान उसका देखने वाला हूँ।

इसी प्रकार पंच प्राण क्रिया करें, अथवा न करें दोनों अवस्थाओं में, मैं उन्हें जानता हूँ। इस प्रकार प्राण मेरे नहीं, वरन् पंच महाभूतों के हैं। मैं तो इनका द्रष्टा मात्र तथा इनसे सर्वथा भिन्न हूँ।

मन संकल्प-विकल्प करे चाहे न करे, बुद्धि निश्चय करे चाहे न करे, मैं इन्हें सब अवस्थाओं में जानता हूँ। इसलिए यह दोनों मेरे नहीं वरन् पंचीकृत महाभूतों के हैं। मैं तो इनका द्रष्टा और इनसे पृथक् हूँ। इस सब के कहने से यह स्पष्ट हो गया कि उपर्युक्त तत्वों में से कोई भी मेरा नहीं, वरन् मैं तो इनसे निर्लिप्त और भिन्न हूँ।

यदि शंका करें कि उपर्युक्त प्रकार के कथन से क्या लाभ हुआ तो कहा जायगा कि उसमें सूक्ष्म शरीर (लिंग देह) और उसके पुण्यपाप का कर्तृत्व, उनके फलों का भोक्तृत्व तथा इहलोक-परलोक में आवागमन, वैराग्य, शम-दम आदि सात्विकी वृत्तियाँ, राग-द्वेष आदि राजसी वृत्तियाँ, निद्रा-आलस्यादि तामसी वृत्तियाँ क्षुधा, तृषा, तम, मन्दता तथा चातुर्यादि मेरे धर्म नहीं वरन् अपने-अपने भूतों के अंश रूप हैं। मैं तो इनसे सर्वथा भिन्न एवं निर्लिप्त हूँ।

यदि कहें कि पुण्य-पाप का कर्तृत्व आदि मेरे धर्म नहीं, यह कैसे समझा जाय तो विकारी वस्तु के क्रियावान होने पर कर्ता और निर्विकार कूटस्थ होने से क्रिया-रहित होगी। इससे मैं पुण्य-पाप रूप क्रिया का कर्त्ता नहीं हूँ, इसीलिए भोक्ता भी नहीं हो सकता। इसलिए यह मेरे धर्म नहीं, वरन् अन्तःकरण के हैं। इससे निश्चय हुआ कि मैं घट द्रष्टा के समान इसका द्रष्टा मात्र एवं भिन्न हूँ।

आवागमन मेरा धर्म नहीं

यदि कहें कि इहलोक-परलोक में आवागमन मेरे धर्म हैं या नहीं, यह किस प्रकार समझें तो कहना चाहिए कि अन्तःकरण परिच्छिन्न है, उसका प्रारब्ध कर्म के कारण आवागमन संभव है, किन्तु मैं आकाश के समान व्यापक हूँ, इसलिए आवागमन मेरा धर्म नहीं हो सकता।

यदि शंका करें सात्विकी आदि वृत्तियाँ मेरा धर्म नहीं, यह कैसे समझा जाय ? तो कहा जायगा कि जैसे कोई ऐश्वर्यवान राजा अपने विशाल भवन में बैठा हो और उसके विनोद के लिए वहाँ कोई अद्भुत फव्वारा बनाया गया हो, जिसके खोलने पर जल की तीन धाराएँ निकलें और बन्द करने पर धाराएँ रुक कर अकेला राजा ही वहाँ बैठा रह जाय। इसी प्रकार स्थूल देह रूप भवन में अधिष्ठान कूटस्थरूपसे स्थित आत्मा रूप राजा बैठा है। उसके

विनोदार्थ माया रूपी कारीगर ने अन्तःकरण रूपी फव्वारा बनाया है। उसकी प्रारब्ध रूप कल के खोलने से त्रिगुणात्मिका तीन धाराएं प्रवाह रूप से निर्गत होती हैं तथा उनके भीतरसे अगणित वृत्तियाँ उठती हैं। किन्तु सुषुप्ति में प्रारब्ध कर्म रूपी कल के बन्द करने से उन वृत्तियों के भाव-अभाव का प्रकाशक आत्मा रूप राजा ही शेष रहता है,वही मैं हूँ। इससे स्पष्ट हुआ कि ये तीन गुणों वाली वृत्तियाँ मेरी नहीं, वरन् अन्तःकरण की हैं। मैं तो इनका द्रष्टा, किन्तु इनसे सर्वथा भिन्न हूँ।

इसी प्रकार नेत्रादि इन्द्रिय आदि अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं, इसलिए अन्धत्व, मन्दत्व एवं चातुर्य आदि उन्हीं का धर्म है। इन्द्रिय का रूप ग्रहण न करना (न देखना) अन्धत्व, स्वल्प ग्रहण करने से मन्दत्व और स्पष्ट ग्रहण करने से चातुर्य होता है। यह सभी धर्म मेरे नहीं, इन्द्रियों के हैं।

मैं तो इनके जानने वाला तथा इनसे अलग हूँ। इस प्रकार मेरा सूक्ष्म देह का द्रष्टा होना भी सिद्ध है।

अब कारण देह का विवेचन करेंगे। सुषुप्ति से उठनेके पश्चात् पुरुष कहे कि मैं कुछ भी नहीं जानता तथा जाग्रत में भी कहे कि मैं ब्रह्म को नहीं जानता। इस प्रकार के अनुभव का विषय अज्ञान है। स्वप्न में जो निद्रा है, वह भी अज्ञान का ही रूप है। ऐसा अज्ञान ही कारण देह है। अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म दोनों देहों का हेतु अज्ञान है, इसीलिए इसे कारण देह कहा जाता है। तत्वज्ञान से इस अज्ञान का दाह होता है, इसीलिए इसकी देह संज्ञा हुई। यह अज्ञान गर्भ स्थान के अन्धकार के समान ब्रह्म का आश्रित होकर ब्रह्म को ही ढँकता है। कारण देह यथार्थ में स्वयं अज्ञान ही है, उसे अज्ञान का (अथवा अज्ञान जनित)कहने से वही अभिप्राय है जो कि राहु को ही राहु का मस्तक कहने से होता है।

यदि कहें कि कारण देह में नहीं, या मेरी वृत्ति नहीं यह कैसे समझा जाय ? तो कहेंगे कि मैं जानता हूँ' या 'मैं नहीं जानता' आदि अन्तःकरण की वृत्तियाँ हैं, जिन्हें ज्ञात-अज्ञात वस्तु रूप विषय के सहित मैं जानता हूँ। इस प्रकार मैं उनसे भिन्न हूँ, इसलिए कारण देह मेरा नहीं, अज्ञान का है, यह सिद्ध होता है। जैसे घट का जानने वाला घट नहीं होता, वैसे ही मैं इसके जानने वाला होने से इससे सर्वथा भिन्न एवं द्रष्टा हूँ। इस सबसे सिद्ध हुआ कि मैं स्थूल देह, सूक्ष्म देह और कारण देह—तीनों का द्रष्टा या साक्षी और उनसे पृथक् हूँ।

चतुर्थ कला प्रारम्भ

पंचकोशातीतात्म निरूपण

मनहर छन्द

पंचकोशातीत मैं हूँ अन्न प्राण मनोमय,
विज्ञान आनन्दमय पंचकोश नातमा ।
स्थूलदेह अन्नमय, कोश लिंग देह प्राण,
मनरु विज्ञान तीन कोश कहें मातमा ।
कारण आनन्दमय कोश ये कारण जड़,
विकारी विनाशी व्यभिचारी ही अनातमा ।
अज चित अविकारी नित्य व्यभिचारहीन,
पीताम्बर अनुभव करता मैं आतमा ।।४।।

अर्थात्—मैं पंचकोशों से भिन्न हूँ । अन्नमय, प्राणमय, मनोमय,विज्ञानमय और आनन्दमय नामक

वे पाँचों कोश अनात्मा अर्थात् आत्मा नहीं हो सकते। उनमें स्थूल देह अन्नमय कोश है। महात्मा जन लिंग देह को प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कहते हैं। कारण देह आनन्दमय कोश है, यह भी जड़, विकारी नाशवान है। इस प्रकार सभी शोक व्यभिचारी और अनात्मा सिद्ध होते हैं। पीताम्बर जी कहते हैं कि अजन्मा, चेतन, अविकारी, अविनाशी और अव्यभिचारी तथा 'सब का अनुभव करने वाला तो मैं आत्मा ही हूँ'॥४॥

प्रथम प्रश्न उठता है कि पंचकोशातीत क्या हैं ? ऊपरके छन्द में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय नामक पाँच कोशों का वर्णन हुआ है। कोश का अर्थ कोठागार अथवा घर को कहते हैं। जैसे तलवार की म्यान उसे ढँकनेके कारण कोश कहलाती है तथा स्वर्ण द्रव्यादि रखनेका सुदृढ़ कक्ष भी कोश कहलाता है और पंचकोश आत्माको

ढाँक कर घर रूप होते हैं, इसीलिए उनको कोश कहा गया है। इनमें से पहिले अन्नमय कोश का विवेचन करेंगे।

स्थूल देह को अन्नमय कोश मानते हैं। क्योंकि माता-पिता द्वारा खाये हुए अन्न से जिस रज-वीर्य की उत्पत्ति होती है,उसी से स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है और उत्पन्न होने पर अन्न से ही वृद्धि होती है और अन्न से ही जीवन चलता है और अन्त में जब मृत्यु होती है तब वह अन्न के हेतु रूप पृथिवी में ही लीन हो जाता है। इसीलिए स्थूल शरीर को अन्नमय कहा गया है।

अन्नमयकोश कैसा है? इसे बताते हैं कि यह सुख-दुःख के अनुभव रूप भोग का स्थान है तथा जन्म से पहिले और मरण के पश्चात् इस स्थूल शरीर का अभाव होता है, इससे इसके जन्म मरण की सिद्धि होती है। जैसे घट-पट कुम्भकार या जुलाहे का

कार्य है,वैसे ही स्थूल शरीर भी कार्य रूप है। किन्तु मैं सदैव स्थित रहता हूँ। मेरा उत्पत्ति-विनाश कुछ भी नहीं है, इसलिए इससे सर्वथा भिन्न एवं विलक्षण हूँ। मैं इस स्थूल देह का जानने वाला सत्य आत्मा हूँ।

पाँच कर्मेन्द्रियों सहित जो पाँच प्राण हैं, वे ही प्राणमय कोश कहे जाते हैं। उन पाँचों में जो प्राण-वायु है उसका निवास हृदय स्थान में है तथा वह एक दिन रात्रि में २१६०० श्वासोच्छ्वास रूप क्रिया को करता रहता है। किन्तु श्वासोच्छ्वास की इस गणना में शरीर एव अवस्था आदि के भेद से कमा-वेशी भी हो जाती है।

शेष चार प्राणों में से अपान वायु गुद स्थान में रहता हुआ मल-मूत्र विसर्जन का कार्य करता है समान वायु नाभि में रह कर, जैसे उद्यान का माली कुँए के जल को क्यारियों में पहुँचाता है, वैसे ही

भोजन किये अन्न के रस को निकाल कर नाडी द्वारा समूचे देह में पहुँचाने की क्रिया करता है।

उदानवायु कण्ठ में रहता है और खाये हुए अन्नादि का विभाग करता हुआ डकार, हिचकी, स्वप्न-दर्शन आदि तथा मरण काल में उत्क्रमण रूप क्रियाओं को करता है।

व्यान वायु सम्पूर्ण देह में रह कर अंग संचालन रूप क्रिया करता है। सर्वत्र गमन, प्राणापान की सन्धि आदि की क्रिया इसी के द्वारा होती है। इस प्रकार पंचप्राण के स्थान और क्रिया को समझना चाहिए। यह प्राणादि वायु सम्पूर्ण शरीर में पूर्ण होकर शरीर को बल देते रहते हैं तथा इन्द्रियों को भी उनके अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त किया करते हैं।

यथार्थ यह पंच प्राण एक प्राण के ही रूप हैं। स्थान एवं कार्य के भेद से पृथक्-पृथक् विभाजित

होकर भिन्न-भिन्न वन जाते हैं सुषुप्ति में जब सभी इन्द्रिय और अन्तःकरण सो जाते हैं, तव प्राण उस अवस्था में भी जागता रहता और अपने विभागानुसार सब कार्योंको करता रहता है। प्राणी इन्द्रिय के विकृत होने अथवा नष्ट होने पर जीवित रह सकता है, जैसे चक्षु इन्द्रिय न हो तो अन्धा भले ही हो जाय, किन्तु जीवन रहा आता है। पर, प्राण के विना जीवन नहीं, रह सकता। इसीलिए विद्वानों ने प्राण को जीवन माना है।

प्राण में इतनी विलक्षणता होने पर भी वह सोते हुए मनुष्य का कोई प्रेमी आवे तो उसका सत्कार नहीं करता और शत्रु आकर मारने लगे तो वह उसे रोकता नहीं। चोर चोरी करके लेजाय तो भी प्राण को उससे कोई प्रयोजन नहीं। इससे जागता रह कर भी प्राण घट के समान जड है तथा मैं चैतन्य रूप उन प्राणोंसे विलक्षण हूं। इससे सिद्ध

हुआ कि यह प्राणमय कोश आत्मा नहीं और न आत्मा का है, वरन् यह सूक्ष्म देह रूप है। इसको जानने वाला मैं आत्मा इससे भिन्न हूँ।

अब मनोमय कोश पर प्रकाश डालते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के सहित मन ही मनोमय कोश है। शरीर में अहं भाव और घर आदि में ममता रूप अभिमान को करनेवाला तथा इन्द्रिय द्वारा बहिर्गमन करने वाला जो मन है, वह काम-क्रोधादि वृत्तियों से युक्त होने के कारण नियम-रहित स्वभाव का एवं विकारी है। किन्तु मैं विकार-रहित तथा सर्व वृत्तियों का साक्षी हूँ, इससे भी सिद्ध होता है मनोमय कोश मैं या मेरा नहीं,वरन् सूक्ष्मदेह रूप है। मैं तो इसका जानने वाला तथा साक्षी आत्मा एव इससे सर्वथा भिन्न हूँ।

विज्ञानमय कोश क्या है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि पंच ज्ञानेन्द्रिय युक्त बुद्धि ही विज्ञानमय कोश

हैं। वह चिदाभास युक्त बुद्धि सुषुप्ति में विलीन हो जाती है और जाग्रति में नख शिखा तक समूचे शरीर में व्याप्त रहती हुई कर्त्ता रूप होती है। इस प्रकार विलय आदि की अवस्था वाली होनेके कारण बुद्धि विनष्ट होने वाली है, किन्तु मुझ में विलय आदि की अवस्था नहीं होती, इसलिए मैं अविनाशी हूँ। इससे स्पष्ट हुआ कि विज्ञानमय कोश मैं नहीं हूँ, न यह मेरा है, वरन् यह सूक्ष्मदेह रूप है। मैं तो इसका जानने वाला साक्षी एवं इससे पृथक् हूँ।

अब आनन्दमय कोश को कहने हैं—जब पुण्य-रूप कर्मफल का अनुभव करती हुई बुद्धि अन्तर्मुखी होकर, आनन्द स्वरूप आत्मा के प्रतिबिम्ब को प्राप्त कर उसकी आराधन करती है तथा जिसे प्रिय मोद, प्रमोद रूप कहते हैं, वह वृत्ति पुण्यकर्मफल के भोग की निवृत्ति होने पर निद्रा रूप से लीन हो जाती है,

उसी वृत्ति को आनन्दमय कोश कहते हैं। इस कोश का शिर इष्ट वस्तु के देखने से उत्पन्न हुई प्रिय वृत्ति है इसका दक्षिण पक्ष (पख) इष्ट वस्तु की प्राप्ति से उत्पन्न मोद वृत्ति और वाम पक्ष इष्ट वस्तु के भोग से उत्पन्न प्रमोद वृत्ति है। जिसका स्वरूप बुद्धि अथवा अज्ञान की वृत्ति में आत्मस्वरूप भूत आनन्द का प्रतिविम्ब तथा पूँछ विम्ब रूप आत्मा का स्वरूप भूत आनन्द है। ऐसा पक्षी स्वरूप भोक्ता आनन्दमय कोश कहा जाता है।

किन्तु, यह आनन्दमय कोश भी मेघ आदि पदार्थों के समान कभी-कभी होने वाला, क्षणिक एव कल्पित है, और मैं सदैव विद्यमान रहने के कारण नित्य हूँ। इससे सिद्ध हुआ कि आनन्दमय कोश न तो मैं स्वयं हूँ न और यह मेरा ही है, वरन् यह कारण देह स्वरूप है और मैं आत्मा इसका जानने वाला होने से भिन्न एवं साक्षी स्वरूप हूँ. ऐसा जानना ही श्रेष्ठ ज्ञान है।

यदि शंका करें उक्त पंच कोशों में से कोई भी आत्मा नहीं है तब आत्मा कौन है ? इसका समाधान है कि बुद्धि आदि में प्रतिविम्व रूप से स्थित प्रिय आदि शब्दों से कहा जाने वाला जो आनन्दमय कोश है उसका कारण आनन्द नित्य होने से आत्मा है। यद्यपि अनुभव में यह पंच कोश ही आते हैं, इनसे भिन्न कोई आत्मा अनुभव में नहीं आता, तथापि जिस अनुभव से यह पाँच कोश जाने जाते हैं, उस अनुभव रूप का निवारण कैसे होगा ? अर्थात् वही अनुभव रूप चैतन्य ही पंच कोश से भिन्न आत्मा है। वही आत्मा सत् चित् आनन्द स्वरूप हैं।

———

पंचम कला प्रारम्भ

अवस्थात्रय साक्षि निरूपण

मनहर छन्द

अवस्था तीन को साक्षी आतमा अन्वय याको,
व्यभिचारी अवस्था को व्यतिरेक पाइयो।
त्रिपुटी चतुरदश करि व्यवहार जहाँ,
स्पष्ट सो जाग्रत झूठ ताको दृश्य ध्याइयो।
देखे सुने वस्तुन के संस्कार सै सृष्टि जहां,
अस्पष्ट प्रतीति स्वप्न मृषा लोक गाइयो।
सकल करण लय होय जहां सुषुप्ति सो,
पीताम्बर तुरीय ही प्रत्यक प्रत्याइयो ॥५॥

अर्थात्—जाग्रतादि तीन अवस्थाओं के साक्षी आत्मा का उन अवस्थाओंमें सम्बन्ध पाया जाता है,

जबकि उन व्यभिचारी अवस्थाओं में व्यतिरेक है। जहाँ चौदह त्रिपुटी के द्वारा व्यवहार हो वह जाग्रत अवस्था है, उसका जो दृश्य है, वह झूठा है। जहा देखी-सुनी वस्तुओं के संस्कारों से सृष्टि प्रतिभासित होती हो, उस संसार को स्वप्नवत् मिथ्या कहा जाता है। और जहाँ अज्ञान में सब कारण लुप्त हो जाते हैं, वह सुषुप्ति है। पीताम्बरजी कहते हैं कि तीन अवस्थाओं से ऊपर जो चौथी तुरीय अवस्था है, उसी अन्तरात्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ॥५॥

उपर्युक्त छन्द में तीन अवस्थाओं की चर्चा हुई है, वे तीन अवस्थाएँ हैं जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। पहिले इनमें से जाग्रत् अवस्था पर प्रकाश डाला जाता है—आत्मा को आश्रय करके वर्तमान जो चौदह इन्द्रिय हैं, वे अध्यात्म तथा उसके चौदह देवता अधिदेव हैं। उनके जो चौदह विषय हैं, वही अधिभूत कहे जाते हैं। यह चौदह की त्रिपुटी अर्थात्

बयालीस तत्वों से जिसमें व्यवहार हो, वह जाग्रत अवस्था कहलाती है।

वे चौदह इन्द्रियाँ हैं—श्रत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण—यह पाँच ज्ञानेन्द्रिय, वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और गुदा—यह पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—यह चारों अन्तःकरण, इस प्रकार यह चौदह इन्द्रियां हुई। इन्हें अध्यात्म कहते हैं।

अब इनके देवताओं को बताते हैं—श्रोत्रेन्द्रिय का देवता दिशा (दिग्पाल), त्वचा का देवता वायु, चक्षु का देवता सूर्य, जिह्वा का देवता वरुण, घ्राण का देवता अश्विनीकुमार, वाक् का देवता अग्नि, पाणि का देवता इन्द्र, पाद का देवता वामन, उपस्थ का देवता प्रजापति, गुदा का देवता यम, मन का देवता चन्द्रमा, बुद्धि का देवता ब्रह्मा चित्त का देवता वासुदेव और अहंकार का देवता रुद्र माना

गया है। यह अधिदेव कहलाते हैं।

अब चौदह इन्द्रियों के विषय में कहते हैं—श्रोता का विषय शब्द, त्वचा का विषय स्पर्श, चक्षु का विषय रूप जिह्वा का विषय रस, घ्राण का विषय गंध, वाक् का विषय वचन, पाणि का विषय आदान-प्रदान, पाद का विषय गमन, उपस्थ का विषय रति, गुद का विषय मल त्याग, मन का विषय संकल्प-विकल्प, बुद्धि का विषय निश्चय, चित्त का विषय चिन्तन और अहंकार का विषय अहंभाव है। इन चौदहों को अधिभूत कहते हैं।

अध्यात्म आदि उक्त तीनों को त्रिपुटी कहते हैं। पुट का तात्पर्य आकार समझना चाहिये। इनको इस प्रकार से समझना चाहिये—

इन्द्रिय	देवता	विषय
(अध्यात्म)	(अधिदेव)	(अधिभूत)

ज्ञानेन्द्रिय की त्रिपुटी—

श्रोत	दिशा	शब्द
त्वचा	वायु	स्पर्श
चक्षु	सूर्य	रूप
जिह्वा	वरुण	रस
घ्राण	अश्विनीकुमार	गन्ध

कर्मेन्द्रिय की त्रिपुटी—

वाक्	अग्नि	वचन
पाणि	इन्द्र	आदान-प्रदान
पाद	वामन	गमन
उपस्थ	प्रजापति	रतिभोग
गुद	यम	मलत्याग

चारों अन्तःकरण की त्रिपुटी—

मन	चन्द्रमा	संकल्प विकल्प
बुद्धि	ब्रह्मा	निश्चय

चित्त	वासुदेव	चिन्तन
अहंकार	रुद्र	अहंभाव

उपर्युक्त त्रिपुटियों में किसी एक पुट का भी अभाव होने से कार्य व्यवहार नहीं चल सकता। जैसे इन्द्रिय और देवता तो हो किन्तु विषय न हो तो वे दोनों अपने कार्य को नहीं कर सकते। चक्षु इन्द्रिय का विषय रूप-दर्शन या श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द श्रवण है और उन-उन इन्द्रियों के विषयों का अभाव है, यथा—नेत्र में रूप नहीं है अर्थात् देखने की शक्ति नहीं है या कान में श्रवण-शक्ति नहीं है तो इस विषयाभाव के कारण वह इन्द्रिय अपने कार्य को नहीं कर सकती। नेत्र का विषय रूप और देवता सूर्य है, किन्तु नेत्र नहीं हैं तो रूप-दर्शन संभव नहीं है। इसी प्रकार अन्य सब इन्द्रियों के विषय में समझना चाहिए।

जाग्रत अवस्था में जीव का स्थान नेत्र माना गया है। यद्यपि उस अवस्था में जीव नख से शिख

पर्यन्त सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है, किन्तु उसका प्रमुख स्थान नेत्र ही है। वह वैखरी वाणी बोलता और स्थूल भोगों को भोगता है उसमें क्रिया शक्ति की सम्पन्नता और रजोगुण की प्रधानता रहती है। जाग्रत के अभिमान से इस जीव का विश्व नाम होता है, क्योंकि उसमें सुषुप्ति और स्वप्न के भोक्ता तथा विश्व विद्यमान रहता है।

किन्तु उपर्युक्त त्रिपुटी अविद्यात्मक है, यह भोग और संसार सभी की उत्पत्ति अज्ञान से है। मैं पूर्ण या अपूर्ण त्रिपुटी, जाग्रत अवस्था या उसके अभाव आदि को जानता हूँ। इनकी विद्यमानता स्थूल शरीर में है, इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। न तो यह मेरे हैं और न मैं इनका हूँ। घट द्रष्टा के समान मैं इनका जानने या देखने वाला हूँ, इसलिये साक्षी और इनसे सर्वथा भिन्न हूँ।

अब स्वप्न अवस्था क्या है? इस पर विचार करते हैं। जाग्रत अवस्था में जो पदार्थ देखे-सुने-भोगे

हुए हों, उनकी अनुभूति के संस्कार से, वाल के एक हजारवें भाग के समान सूक्ष्म 'हिता' नामक नाड़ी जो कण्ठ में रहती है, उसमें जीव निवास करता है। उससे निद्राकाल में पाँच विषय आदि पदार्थों का ज्ञान उत्पन्न होता है। उस ज्ञान से उस अनुभूति से जिसमें व्यवहार हो, वह स्वप्नावस्था मानी गई है।

स्वप्नावस्था में जीव का स्थान कण्ठ है। वह मध्यमा वाणी बोलता और वासनामय सूक्ष्म भोगों का भोगता है। उस अवस्था में वह ज्ञानशक्ति और सत्व गुण से सम्पन्न रहता है। उस समय उसका तेजस् नाम होता है क्योंकि तव उसमें तेजोमय अन्तः करण की प्रमुखता होती है। मैं इस अवस्था को भले प्रकार जानता हूँ, इसलिए इसका साक्षी हूँ, किन्तु घट के साक्षी के समान इस अवस्था से सर्वथा भिन्न हूँ। क्योंकि यह अवस्था मेरी नहीं, वरन् सूक्ष्मदेह की है।

अब सुषुप्ति अवस्था क्या है ? इसका उत्तर देंगे–निद्रा से जाग कर उठा हुआ पुरुष सुषुप्ति में अनुभव किये हुए सुख-दुःख का स्मरण करता हुआ कहे कि आज मैं सुख पूर्वक सोया, किन्तु जान न पाया। यह सुख और अज्ञान का प्रकाश साक्षीरूप अनुभव से उत्पन्न होता है। ऐसी बुद्धि की विलय अवस्था ही सुषुप्ति की अवस्था है। उस समय जीव का निवास हृदय में होता है। उसकी वाणी पश्यन्ती होती है तथा वह आनन्द का भोग करता है। उसमें द्रव्य की शक्ति होने के कारण तमोगुण की प्रधानता रहती है। सुषुप्ति के अभिमान से युक्त बस जीव को उस अवस्था में 'प्राज्ञ' कहते हैं।

इस विषय में उदाहरण है कि जैसे किसी धनिक का कोई आभूषण कुँए में गिर गया, उस धनिक की प्रेरणा से कोई व्यक्ति कुँए में घुस कर उस आभूषण की खोज करने लगा। आभूषण मिला या नहीं, इसे

वह भले प्रकार जानता है, किन्तु कहने के साधन रूप वाक् इन्द्रिय के देवता अग्नि का जल से विरोध होने से कारज वाणी का तिरोधान हो जाता है, इसलिए वहाँ से कहने में असमर्थ रहता है। किन्तु अब वह जल से वाहर आजाता है, तव विरोधी देवता के न रहने के कारण आभूषण मिलने, न मिलने की वात बताने में ससर्थ होता है।

उसी प्रकाने सुषुप्ति अवस्था में सुख और अज्ञान का साक्षी चेतन स्वरूप सामान्य ज्ञान रहता है। किन्तु विशेष ज्ञान के साधन रूप इन्द्रिय और अन्तः करण का उस समय अभाव होने के कारण सुख और अज्ञान का विशेष ज्ञान नहीं होता। जब वह जानता है, तब उसमें विशेष ज्ञान के साधन रूप इन्द्रिय और अन्तःकरण का अभाव नहीं रहता। इससे सुषुप्ति में अनुभव किये सुख अज्ञान का स्मृति रूप विशेष ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

अब अन्य दृष्टान्त देते हैं जैसे धूप में रखा हुआ घृत पिघल गया हो, उसे छाया में रख दें तो जम जायगा और पुनः धूप में रख दें तो फिर पिघल जायगा ! ऐसे ही सुषुप्ति में जो कारणदेह रूप अज्ञान है, वह जाग्रत और स्वप्न में बुद्धि रूप होता है, किन्तु पुनः सुषुप्ति में होने पर अज्ञान रूप होजाता है। अथवा जैसे कोई बालक अपने साथियों के साथ खेलने को जाता और फिर थक कर माता की गोद में सोता हुआ घर के सुख का अनुभव करता है और पुनः बालकों के द्वारा बुलाया जाने पर खेलने में व्यस्त हो जाता है। वैसे ही कारणदेह रूपी अज्ञान माता है, उसका बुद्धि रूप बालक कर्मरूप बालकों के साथ जाग्रत्-स्वप्न रूप बहिर्भूमि में व्यवहार रूपी खेल को खेलता है। फिर जब विक्षेप रूप श्रम को प्राप्त होता है, तब सुषुप्ति अवस्था रूप घर में अज्ञान रूप माता में लीन होकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। पुनः कर्मरूप बालकों की प्रेरणा पर

जाग्रत-स्वप्न अवस्था रूप वहिर्भूमि को प्राप्त होकर व्यवहार रूप क्रीड़ा में लग जाता है ।

एक और दृष्टान्त है—जैसे समुद्र के जल से भरे हुए घड़े के कण्ठ में रस्सी बाँधकर समुद्र में डाल दें। तव घड़े का जल समुद्र के जल में मिल कर एक हो जाता है। फिर भी वह घड़ा अपनी उपाधि के कारण भिन्न के समान है, क्योंकि रस्सी खेंच कर घड़े को निकालने पर उसका जल समुद्र के जल से पृथक् हो कर भेद को प्राप्त करता है। किन्तु जल युक्त घट और समुद्र का आधार आकाश भिन्न नहीं होता, वरन् वह तो हर समय ही एक रस रहता है। वैसे ही अज्ञान रूप समुद्र के जल से परिपूर्ण जो लिंगदेह स्वरूप घड़ा है, वह अदृश्य रूप रस्सी से बँधा हुआ सुषुप्ति काल में और उसके अवान्तर भेद रूप मरण, मूर्छा और प्रलय काल में समष्टि अज्ञान रूप ईश्वर की उपाधि जो माया है, उसमें लीन होकर व्यष्टि

अज्ञान रूप जीव की उपाधि अविद्या और समष्टि अज्ञान मिल कर एक होजाता है। फिर भी वह लिंग देह के संस्कार रूप उपाधि के कारण भिन्न के समान रहता है। फिर उस अदृश्य रूप रस्सी को अन्तर्यामी की प्रेरणा मिलती है, तब उसमें भेद प्रतिभासित होता है। किन्तु व्यष्टि अज्ञात रूप जलयुक्त लिंगदेह रूप घट का और समष्टि अज्ञान रूप समुद्र का अधार जो चिदाकाश है वह भिन्न नहीं होता, वरन् त्रिकाल में एक रस रहता है।

उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि सुषुप्ति अवस्था के भाव-अभाव को मैं आत्मा भले प्रकार जानता हूँ, इसलिए इसका साक्षी हूँ। यह अवस्था मेरी नहीं, वरन् कारण शरीर की है। मैं तो घट के साक्षी के समान इससे नितान्त परे, सर्वथा भिन्न एवं सुषुप्ति अवस्था का साक्षी हूँ।

—*—

षष्ठ कला प्रारम्भ

प्रपंच मिथ्यात्व वर्णन

—ललित छन्द—

सकल दृश्य अध्यास छोड़ना,
जग–अधार में चित्त जोड़ना ।
त्रय दशाहि जो जाग्रदादि हैं,
सव प्रपञ्च सो भिन्न नाहिं हैं ॥६॥
रजत आदि हैं सीपि में यथा,
त्रयदशा सोउ ब्रह्म में तथा ।
रजत आदि वत् दृश्य ये मृषा,
शुगतिकादिवत् ब्रह्म अमृषा ॥७॥
व्यभिचरे मिथो अजत आदि ज्यों,
इनाहिक मिथो व्यवृती ज त्यों ।

शुगति सूत्रवत् अनुग एक जो,
अनुवृतीयुतो ब्रह्म आपु सो ॥८॥
शुगति कामहीं तीन अंश ज्यों,
अजड ब्रह्म में तीन अंश त्यों ।
उभय अंश को सत्य जानि लै,
तृतीय त्याग दे मोक्ष तौ मिलै ॥ ॥

अर्थात्—यह सम्पूर्ण दृश्य रूप जो अध्यास (मिथ्या भ्रम) है, उसे त्याग कर संसार के अधिष्ठान रूप तत्व में चित्त लगाना चाहिये । जाग्रत् आदि जो तीन दशाएँ हैं, वे सब प्रपंच से भिन्न जो ब्रह्म है ? उससे सम्बन्धित नहीं हैं ॥६॥ जैसे सीपी में चाँदी अदि का भ्रम होजाता है, वैसे ही वे तीनों दशाएँ ब्रह्म में प्रतीत होती हैं । किन्तु जैसे रजत आदि मिथ्या हैं, वैसे ही यह सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच मिथ्या है, वरन् सीपी में सीपी के यथार्थ ज्ञान के समान ब्रह्म

सत्य है ॥७॥ जैसे सीपी में रजत आदि का मिथ्या भ्रम परस्पर व्यभिचरित होता है। अर्थात् सीपी में रजत का या रजत में सीपी का भ्रम होना एक दूसरे के प्रति व्यभिचार है, क्योंकि यह परस्पर व्यावृत हैं। जैसे सीपी की माला में सूत अनुगत रहता है, वैसे ही अनुवृत्तियुक्त ब्रह्म सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच में व्याप्त रहता है॥८॥ जैसे सीपों में सामान्य, विशेष और कल्पित तीन अंश होते हैं, वैसे ही अजड अर्थात् चेतन ब्रह्म में भी सामान्य, विशेष और कल्पित तीन अंश रहते हैं। इनमें ब्रह्म के सामान्य और विशेष अंशों को सत्य जान कर तीसरे कल्पित अंश को त्याग दे अर्थात् असत्य समझले तो मोक्ष की प्राप्ति होजाती है॥९॥

अब उक्त चारों पदों को स्पष्ट करते हैं—जैसे स्वप्न से जागे हुए पुरुष का स्वप्न से सम्बन्ध नहीं रहता, वैसे ही परमात्मतत्व के जानने वाले ज्ञानी के

अनुभव में परमात्मतत्व से भिन्न किसी वस्तु की सत्ता नहीं रहती। वह ज्ञानी ‘इस दृश्य जगत्’ के स्थान पर इसके अधिष्ठान रूप परमात्म तत्व को ही देखता है। गीता ने भी सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच के प्रति आसक्ति के त्याग करने का उपदेश दिया है, यथा—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

अर्थात्—आसक्ति से रहित होकर कर्तव्य कर्म को सदा करता रहे, क्योंकि कर्म करता हुआ अनासक्त पुरुष परमात्मा को प्राप्त होजाता है। (गीता ३।१९) पीताम्बरजी के उक्त छन्द से भी यही आभासित होता है कि यह दिखाई देता हुआ संसार मिथ्या है, इसलिये उसके प्रति आसक्ति का त्याग कर परमात्म तत्व में चित्त लगावे। क्योंकि संसार का अधिष्ठान रूप वह परमात्म तत्व ही है। उसकी प्राप्ति होने पर प्राप्ति के योग्य कुछ भी शेष नहीं रहता।

रज्जु में सर्प की भ्रान्ति के समान ही शुक्ति में रजत की भ्रान्ति है। इन भ्रान्तियों का कारण अज्ञान है और यही अज्ञान मनुष्य को भ्रान्तियों के फंदे से बाहर नहीं निकलने देता। विषय-भोग क्षण-भंगुर एवं दुःखरूप हैं तो भी अज्ञानी पुरुष उनकी यथार्थता को न जान कर उन्हीं की ओर दौड़ता है। यही उसके क्लेश और बन्धन का कारण होता है। क्योंकि सुख रूप समझ कर भोगे गये विषय जब प्रारब्धवश नष्ट होजाते हैं, तब उनके अनुभव, उनके संस्कार जीव को उनकी बार-बार याद दिला कर रुलाते हैं। किन्तु जब कोई सद्गुरु उस जीव को अपने उपदेश द्वारा यथार्थ मार्ग दिखाते हैं, तब उन अनर्थों का हेतु समझ में आता है। फिर यदि वह उन भोगों के प्रति आसक्ति को त्याग कर देता है, तभी उसे अक्षयसुख रूप परमात्मतत्व ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा कदापि नहीं हो सकती।

अब इसे अधिक स्पष्ट करते हैं—यदि कहें कि आत्मा में तीन अवस्था किस के समान प्रतीत होती हैं तो कहा जायगा कि सीपी में तीन भ्रान्तियाँ हैं—(१) चाँदी, (२) अभ्रक या भुड़भुड़, (३) कागज। इन तीनों की कल्पना सीपी को न जानने से हुई है। इस प्रकार तीन-तीन वस्तुओं का स.पी के साथ व्यतिरेक तथा सीपी का तीन वस्तुओं में अन्वय सिद्ध होता है। जैसे कि सीपी जब चाँदी के रूप में दिखाई देती है तब अभ्रक या कागज की प्रतीति नहीं होती। जब सीपी में अभ्रक का आभास होता है, तब उसमें चाँदी या कागज का आभास नहीं होता। जब उसमें कागज भासता है तब चाँदी या अभ्रक नहीं भासती। इस प्रकार सीपी में इन तीन वस्तुओं का परस्पर व्यतिरेक है। किन्तु सीपी में सर्वत्र ही इन तीन वस्तुओं का व्यावहारिक और परमार्थिक अत्यन्त अभाव है, इसलिए सीपी भी उन तीन वस्तुओं का व्यतिरेक हो जाती है। जब भ्रान्तिकाल होता है,

तब 'यह चाँदी है' 'यह अभ्रक है 'यह कागज है' इस प्रकार से सीपी का पूर्ण अंश उन तीन वस्तुओं में अनुस्यूत प्रतीत होता है। यह उन तीन वस्तुओं में सीपी का अन्वय हुआ।

यहाँ सीपी के तीन अंग हैं—(१) सामान्य, (२) विशेष, और (३) कल्पित। इनमें इद अश सामान्य है, क्योंकि सामान्य अंश वह है, जिसकी अधिक समय में प्रतीति होती हो। इदं अंश का भ्रान्तिकाल में भी आभास होता है तथा भ्रान्ति का अभाव हो तब भी 'यह सीपी है' ऐसा आभास होता है। इसी से इदं अंश को सामान्य तथा आधार भी मानते हैं।

नील पृष्ठ और त्रिकोणाकार सीपी का विशेष अंश है. क्योंकि जिससे थोड़े समय में प्रतीत हो जाय, वह विशेष अंश होता है। किन्तु भ्रान्तिकाल में नीलपृष्ठ आदि की प्रतीति नहीं होती और जब हो जाती है तब भ्रान्ति का भी निवारण हो जाता है। इसीलिये यह विशेष अंश तथा अधिष्ठान भी कहलाता है।

रूपा आदि कल्पित अंश अथवा कल्पित विशेष अंश माने जाते हैं, क्योंकि अधिष्ठान के ज्ञात काल में प्रतीत न हो, वही कल्पित विशेष अंश है। जैसे सीपी के अज्ञान काल में इनकी प्रतीति होती है, किन्तु ज्ञानकाल में नहीं होती। इसीलिए इसे सीपी से व्यभिचारी एवं कल्पित विशेष अंश माने तथा भ्रान्ति भी कहते हैं।

इसी प्रकार अधिष्ठान रूप आत्मा में जाग्रत्, स्वप्न या सुषुप्ति की भ्रान्तियाँ आत्मा के अज्ञान से होती हैं। उनका परस्पर और अधिष्ठानात्मा के साथ व्यतिरेक तथा उनमे आत्मा का अन्वय है। जैसे कि जब जगत् भासता है, तब स्वप्न और सुषुप्ति नहीं भासते। जब स्वप्न भासता है, तब जाग्रत् और सुषुप्ति का भास नहीं होता। जब सुषुप्ति का भास होता है तब जाग्रत् और स्वप्न की प्रतीति नहीं होती। इस प्रकार इन तीन अवस्थाओं का परस्पर व्यतिरेक है तथा अधिष्ठान में इन तीन अवस्थाओं

का परमार्थिक रूप से अत्यन्त अभाव है। यह तीन अवस्थाओं का अधिष्टान में व्यतिरेक हुआ और आत्मा इन तीन अवस्थाओं में अनुस्यूत होकर प्रकाशता है। यह आत्मा का उन अवस्थाओं में अन्वय है।

यहाँ आत्मा के अविद्या-उपाधि से आरोपित तीन अंश हैं—(१) सामान्य, (२) विशेष, (३) कल्पित विशेष। इनमें सत् अर्थात् भाव सामान्य अंश है। 'जाग्रत् है' 'स्वप्न है' सुषुप्ति है' इस प्रकार आत्मा का सत् होना भ्रान्तिकाल में भी प्रतीत होता हैं तथा भ्रान्ति की निवृत्ति के समय 'मैं सत् हूँ' 'मैं चित हूँ' 'मैं आनन्द हूँ' 'मैं परिपूर्ण हूँ' 'मैं असंग हूँ' 'मैं नित्य मुक्त ब्रह्म हूँ। इस प्रकार से आत्मा के सत्पने का भास होता है। इसने यह सत्रूप सामान्य अंश एवं आधार भी कहलाता है।

चेतन, आनन्द, असंग, अद्वितीय आदि जो आत्मा के विशेषण हैं वे विशेष अंश हैं क्योंकि भ्रान्तिकाल

में इनकी प्रतीति नहीं होती, और भ्रान्ति का निवारण इनकी प्रतीति से हो जाता हैं। इससे यह विशेष अंश अधिष्ठान भी कहलाता है। •

तीन अवस्था रूप प्रपंच कल्पित विशेष अंश माना गया है। क्योंकि ब्रह्म से अभिन्न आत्मा के अज्ञान काल में प्रतीति होती है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार आत्मा के ज्ञान काल में आत्मा से भिन्न सत् की प्रतीति नही होती। इससे यह तीन अवस्थाओं का प्रपंच कल्पित विशेष अंश एवं भ्रान्ति भी कहा गया। इस प्रकार यह तीन अवस्थाएँ आत्मा में मिथ्या रूप से भासती हैं। •

• जैसे स्थाणु में पुरुष की, साक्षी में स्वप्न की, मरुभूमि में जल की, आकाश में नीलिमा की, रस्सी में सर्प की, जल में अधोमुख पुरुष या वृक्ष की और दर्पण में नगरी की प्रतीति होती है, वह सब मिथ्या है। वैसे ही आत्मा में अपने ही अज्ञान से प्रपंच की प्रतीति होती है, वह भी मिथ्या है। इस प्रकार से

दृश्य प्रपंच रूप संसार के मिथ्या होने का निश्चिय करना चाहिए। प्रपञ्च में यही बाधक एवं मोक्ष दायक है।

मिद भ्रमादि जो पचधा भवम्,
त्रिविध तापता तप्त सो दवम्।
परशु पंचधा युक्ति यों करी,
करि विचार तू छेदना डरो ॥१०॥

नहिं जु जाहि में तीन काल में,
तहँहि भान ह्वै मध्य काल में।
शुक्ति रोप्यवत् ध्यास सो भ्रमं,
अरथ ज्ञान दो भाँति का क्रमं ॥११॥

विविध वेस है ज्ञना अर्थ को,
अर्थ भ्रान्ति वा षड्विधा वको।

सकल ध्यास जेजगत भेदसे,
सब सु याहि के वीच में धसे ॥१२॥
निज चिदात्म को ब्रह्म जानि के,
सकल वंस को मूल मान के।
परम मोद को आप बूझि ले,
इहहि मुक्ति पीताम्बरो मिले ॥१३॥

भेद—भ्रमादि युक्त जो पाँच प्रकार का संसार है, सो मानो त्रिविध तापों से तृप्त रहने वाला वन है। उसे पाँच प्रकार की युक्तियों रूपसे से फर काट डालो तो फिर कुछ भय नहीं रहेगा ॥१०॥ जो वस्तु तीन काल में भी नहीं है, उसका आभास मध्य काल में ही हो तो उसे सीप में चाँदी के अध्यास से भ्रम रूप समझे। वह भ्रम अर्थ और ज्ञान दोनों के अध्यास भेद से दो प्रकार का होगा, ऐसा क्रम है ॥११॥ ज्ञान और अर्थ का भेष (रूप) दो प्रकार का है, उनमें कर्थ की जो भ्रान्ति है, उसे छः प्रकार की

कहो। जितने प्रकार अध्यास दर्शाये गये हैं वे सब जगत् में ही घुसे हुए हैं ॥१२॥ निज स्वरूप चिदात्मा को ब्रह्म समझ कर और सभी आकारों का मूल मान कर उस परमानन्द स्वरूप को स्वयं समझ ले। पीताम्बरजी कहते हैं कि इससे इसी लोक में मुक्ति प्राप्त हो जाती है ॥१३॥

यदि कहें कि संसार कितने प्रकार का है ? तो सुनो—यह भ्रान्तिरूप संसार पाँच प्रकार का है—(१) भेदभ्रान्ति रूप, (२) कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व की भ्रान्ति रूप, (३) संग की भ्रान्ति रूप, (४) विकार की भ्रान्ति रूप, और (५) ब्रह्म से भिन्न संसार को सत्यता की भ्रान्ति रूप। इस प्रकार का पाँच प्रकार का जो जंगल रूप संसार है, वह आध्यात्मिक, दैविक, भौतिक इन तीन प्रकार के तापों से तप्त रहता है।

अब इन भ्रान्तियों का स्वरूप बताते हैं—जीव-ईश्वर भेद, जीवों का परस्पर भेद, जड़ों का परस्पर भेद, जीव-जड़ का भेद और जड़-ईश्वर का

भेद इस प्रकार भेद-भ्रान्ति के पाँच उपभेद हैं। अंतःकरण के धर्म कर्त्तृव्य-भोक्तृत्व की आत्मा में प्रतीति ही कर्ता-भोक्तापन की भ्रान्ति है। आत्मा का शरीरादि में अहन्ता रूप और गृहादि में ममता रूप सम्बन्ध है अथवा सजातीय-विजातीय स्वगत वस्तु के साथी-सम्बन्ध की प्रतीति रूप संग भ्रान्ति है। जैसे दूध का विकार दही है, वैसे ही ब्रह्म का विकार जीव एवं जगत है, ऐसी प्रतीति ही विकार की भ्रांति है। ब्रह्म से भिन्न संसार को सत्य समझने की भांति यह पाँचवीं भ्रान्ति है।

इन भ्रान्तियों की निवृत्ति कैसे हो? इस पर कहते हैं कि जैसे दर्पण में मुख का प्रतिविम्ब दिखाई देता है, किन्तु वह प्रतिविम्व दर्पण में है नहीं। किन्तु दर्पण को देखने के लिए निकली हुई नेत्र-ज्योति दर्पण को स्पर्श करके, पीछे लौटकर मुख को ही देखती है। इससे बिम्ब रूप मुख का साथी प्रतिविम्व उस मुख से अभिन्न होने के कारण मिथ्या नहीं है

और प्रतिविम्ब का धर्म बिम्ब से भिन्न होना, दर्पण में स्थिति होना और विम्ब से उलटा होना, यह तीन और इन तीन की प्रतीति रूप ज्ञान, भ्रान्ति ही है। इससे इन धर्मों में मिथ्यात्व के निश्चय रूप वाधा से विम्ब-प्रतिविम्ब का अभेद सिद्ध होता है। वैसे ही शुद्ध ब्रह्मरूप विम्ब के अज्ञान रूप दर्पण में जीवरूप प्रतिबिम्ब प्रतीति होता है, उनमें स्वप्न के समान एक जीव मुख्य है और दूसरे स्थावर-जंगम रूप असंख्य जीव भासते हैं। इस प्रकार ईश्वर रूप बिम्ब से जीव रूप प्रतिविम्ब सदैव अभिन्न समझो। किन्तु माया के प्रभाव से उस जीव के धर्म—विम्ब रूप ईश्वर से भेद, जीवत्व, अल्पज्ञत्व, अल्पशक्तित्व, परिच्छिन्न-त्व, नानात्व आदि तथा उनकी प्रतीति रूप ज्ञान, यह सब भ्रान्ति है। इसके द्वारा मिथ्यात्व का निर्णय होने पर जीव रूप प्रतिविम्ब और ईश्वर रूप विम्ब का अभेद सिद्ध होता है। इस प्रकार भेद-भ्रान्ति की निवृत्ति होती है।

कर्त्तृत्व भोक्तृत्व की भ्रान्ति कैसे मिटे ? इसे बताते हैं–जैसे लाल वस्त्र पर रखे स्फटिक मणि में वस्त्र का लाल संयोग–सम्बन्ध से भासित होता है, किन्तु वह लाल रंग उस वस्त्र का धर्म है, मणि का नहीं। क्योंकि मणि को वस्त्र से हटा लें तो उस मणि में लाल रंग दिखाई देगा। इससे सिद्ध हुआ कि लाल रंग मणि का धर्म न होते हुए भी उसमें भ्रान्ति से भासता है। वैसे ही अन्तःकरण का कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व धर्म तादात्म्य सम्बन्ध से आत्मा में भासता है। किन्तु वह अन्तःकरण का धर्म है, आत्मा का नहीं। क्योंकि जब सुषुप्ति में अन्तःकरण और आत्मा का वियोग होजाता तब वह आत्मा में भासित नहीं होता। इससे सिद्ध हुआ कि कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व आत्मा का धर्म न होते हुए भी उसमें भ्रान्ति से ही भासता है। इस प्रकार कर्त्ता-भोक्तापन की भ्रान्ति निवृत्ति होती है।

संग-भ्रान्ति की निवृत्ति कैसे हो ? इस पर कहते हैं–जैसे घट उपाधियुक्त आकाश घटाकाश कहलाता है और घट के संग भासता है, फिर भी उत्पत्ति, विनाश, गमनागमन आदि जो धर्म घट के हैं, वे आकाश को स्पर्श नहीं करते। इससे आकाश का असंग होना सिद्ध होता है और घट के साथ आकाश का जो सम्बन्ध भासता है, वह भ्रान्ति है। 'वैसे ही देहादि संघातरूप उपाधि वाला आत्माजीव कहलाता है वह संघात के संग भासता है, फिर भी संघात के जन्म मरण आदि धर्म आत्मा को स्पर्श नहीं करते। क्योंकि संघात दृश्य और आत्मा द्रष्टा है। इससे आत्मा का संघात से असंग होना सिद्ध होता है जब आत्मा संघात रूप नहीं, तब आत्मा का संघात के साथ अहंता रूप भी नहीं होगा। क्योंकि संघात आत्मा का नहीं, वरन् पंचमहाभूत का है। इस प्रकार आत्मा का संघात से अहंता-ममतारूप सम्बन्ध भ्रान्ति रूप सिद्ध होकर संगभ्रान्ति की निवृत्ति होती है।

अब विकार-भ्रान्ति के निवारण में दृष्टान्त देते हैं कि जैसे अल्प अन्धकार में रज्जु हो, उसे देखने के लिये नेत्ररूप द्वार से अन्तःकरण की वृत्ति निकलती है। वह वृत्ति अन्धकारादि के दोष से रज्जु के आकार को प्राप्त नहीं करती। इस प्रकार उस वृत्ति से रज्जु का आवरण भंग नहीं होता, तब रज्जु उपाधि वाले चैतन्य की आश्रिता मूला अविद्या मोक्ष को प्राप्त होकर सर्प रूप विकार को धारण करती है। वह सर्प दूध के कार्य दही के समान अविद्या का कार्य है और रज्जु उपाधि वाले चैतन्य का वितक है, परिणाम अर्थात् विकार नहीं। वैसे ही ब्रह्म चैतन्य की आश्रिता मूला अविद्या प्रारब्धादि से क्षोभ को पाकर जड़ चैतन्य (चिदाभास) रूप प्रपञ्चात्मक विकार रूप को धारण करती है। वह प्रपञ्च मूला अविद्या का परिणाम और अधिष्ठान ब्रह्म चैतन्य का विवर्त है, परिणाम नहीं। इस प्रकार रज्जु में कल्पित सर्प की

भ्रान्ति नष्ट होने के समान विकार भ्रांति की निवृत्ति होती है।

ब्रह्म से भिन्न जगत् की सत्यता वाली भ्रान्ति के निवारणार्थ कहते हैं—जैसे कनक (स्वर्ण) और कुण्डल का कार्य-कारण रूप भेद प्रतीत होता है, जो कि कल्पित है और कनक से कुण्डल का भिन्न स्वरूप दिखाई न देने से भी अभेद सिद्ध होता है। क्योंकि कुण्डल का कनक से भिन्न अस्तित्व नहीं है। वैसे ही ब्रह्म और जगत् का कार्य-कारण भाव से जो भेद भासता है, वह कल्पित है और विचार करके देखें तो अस्ति भाति प्रिय रूप से भिन्न नाम रूप वाला जगत् सत्य सिद्ध नहीं होता, वरन् मिथ्या सिद्ध होता है। क्योंकि जिसमें जो वस्तु कल्पित होती है, उससे वह वस्तु भिन्न सिद्ध नहीं होती। इससे निश्चय हुआ कि ब्रह्म से जगत् का अभेद वास्तविक है, क्योंकि ब्रह्म से जगत् की भिन्न सत्ता नहीं है। इस प्रकार कनक

के दृष्टान्त से ब्रह्म से भिन्न जगत् की सत्यता की भ्रान्ति निवृत्त होजाती है।

भ्रान्ति क्या है ? इसका समाधान करते हैं। भ्रान्ति अध्यास को कहते हैं। भ्रान्ति ज्ञान और उसके विषय मिथ्या वस्तु को अध्यास कहते हैं। अध्यास भी दो प्रकार का है–ज्ञानाध्यास और अर्थाध्यास। इनमें अर्थाध्यास छः प्रकार का है - केवल सम्बन्धाध्यास, सम्बन्ध सहित सम्बन्धी का अध्यास, केवल धर्माध्यास, धर्मयुक्त धर्मी का अध्यास, अन्योन्याध्यास और अन्यतराध्यास। अथवा स्वरूपाध्यास और संसर्गाध्यास के भेद से अर्थाध्यास दो प्रकार का भी मानते हैं। उक्त छः प्रकार के भेद तथा उपर्युक्त भेद-भ्रान्ति आदि पाँचों भेद भी इन्हीं के अन्तर्गत समझिये। आगे वर्णनीय आत्मा-अनात्मा के विशेषणों का अन्योन्याध्यास भी इसी के अन्तर्गत है।

आत्मा और अनात्मा का अध्यास जानने में विशेष उपयोगी अध्यास अन्योन्याध्यास है। परस्पर

में परस्पर के अध्यास को अन्योन्याधास कहते हैं। वहाँ सत्, चित्, आनन्त और अद्वैतता, आदि आत्म के विशेष स्वरूप तथा असत्, जडत्व, दुःख, और द्वैतता आदि अनात्मा के विशेष स्वरूप हैं। उनमे अनात्मा के दुःख और द्वैतता रूप दो विशेषणों ने आत्मा के आनन्द और अद्वैतता को ढँका हुआ है, जिससे आत्मा में ऐसी प्रतीति नहीं होती कि 'मैं आनन्दरूप और अद्वैत रूप हूँ', वरन् ऐसी प्रतीति होती हैं कि 'मैं दुःखी एवं ब्रह्म से भिन्न हूँ'।

आत्मा के सत् और चित् विशेषण अनात्मा के असत् और जडत्व को ढँकते, हैं, जिससे अहंकारादि अनात्मा में असत् एवं जडत्व को प्रतीति नहीं होती किन्तु विद्यमानता और भासमानता की प्रतीति होती है। इस प्रकार से आत्मा और अनात्मा का परस्पर अध्यास होता है।

सप्तम कला प्रारम्भ

आत्म विशेषण निरूपण

इन्द्र विजय छन्द

आत्म विशेषण हैं जु दुभांति
विधेस निषेध्य कहों निरधारे,
वे सब जानि भले गुरु शास्त्र सु
सो अपनों निज रूप निहारे।
सच्चिदानन्द रु ब्रह्म स्वयं पर-
काश कुटस्थ रु साक्षि विचारे,
द्रष्टृ अरु उपद्रष्टृ रु एक हि
आदि विधेय विशेषण धारे ॥१४॥
अन्तविहीन अखण्ड असंग रु
अद्वय जन्म विना अविकारे,

चारि अकार विना अरु व्यक्त
न मानन को विषयो जु निकारे,
कर्म करीहि् वढै न घटै इस
हेतु हि् अव्यय वेद पुकारे,
अक्षर नाश विना कहि्ये इस
आदि निषेध्य पीताम्बर सारे ,।१५।।

अर्थात्—आत्मा (ब्रह्म) के दो भाँति के विशेपण हैं—विधेय और निषेध्य, यह निर्णय करके कहे गये हैं। उन विशेषणों को गुरु और शास्त्र के द्वारा जान लेने पर अपने स्वरूप का दर्शन हो जाता है। वहाँ सत्, चित्, आनन्द ब्रह्म स्वयं प्रकाश कूटस्थ, द्रष्टा; उपद्रष्टा, एक आदि विशेषणों को विधेय जान कर धारण करे। आत्मा अनन्त अखण्ड, असंग, अद्वितीय, अजन्मा, अविकारी, चार प्रकार के अण्डज-पिण्डज-ऊष्मज, स्थावर के आकार से रहित अव्यक्त तथा

अमननीय है तथा कर्म करके न घटना है, न बढ़ता है, इसलिए वेद उसे अव्यय कहते हैं । नाशरहित होने के कारण ही वह आत्मा अक्षर कहा गया है। पीताम्बरजी कहते हैं कि इससे आदि और ब भी आत्मा के निषेध्य विशेषण हैं ।।१४-१५।।

आत्मा के दो विशेषण विधेय और निषेध्य के भेद से दो प्रकार के हैं। साक्षात् बोध कराने वाला विधेय और प्रपंच के निषेध द्वार का बोध कराने वाला निषेध्य कहा जाता है। सत्, चित्, आनन्द, ब्रह्म, स्वयंप्रकाश, कूटस्थ, साक्षी, द्रष्टा, उपद्रष्टा तथा एक आदि विशेषण 'विधेय' हैं। यदि कहें कि आत्मा में सत् आदि विशेषण कैसे हुए ? तो कहते हैं कि • ज्ञान से अथवा अन्य किसी प्रकार से जिसकी निवृत्ति न हो सके, वह सत् है और आत्मा की निवृत्ति किसी प्रकार भी नहीं होती इसलिये आत्मा सत् है। •

• अलुप्त प्रकाश ही चित्त है और आत्मा अलुप्त प्रकाश है, इसलिये उसे चित् मानना युक्तियुक्त है •

सब से अधिक प्रीति के विषय को आनन्द कहते हैं और आत्मा में सब की परम प्रीति है, इसलिए आत्मा आनन्द है। उक्त प्रकार से आत्मा सत्, चित् आनन्दरूप, श्रुति, युक्ति और अनुभव से सिद्ध है तथा शास्त्र ने ब्रह्म को भी सत् आनन्दरूप कहा है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा ब्रह्मरूप है। अथवा ब्रह्म व्यापक है, जिसका किसी देश में अन्त न हो उसे व्यापक कहते हैं। यदि आत्मा ब्रह्म से भिन्न हो तो वह देश में अन्तयुक्त हो जायगा और देश में अन्त में होने से काल में भी अन्तयुक्त होगा तथा जिसका देश-काल दोनों में अन्त हो वह नित्य नहीं रहेगा, उससे आत्मा में अनित्यत्व सिद्ध होगा। किन्तु वैसा न होने के कारण आत्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं है। और यदि ब्रह्म को आत्मा से भिन्न समझा जाय तो ब्रह्म अनात्मा होजायगा। जो घट-पटादि अनात्मा हैं, वे सब जड़ हैं तो आत्मा से भिन्न ब्रह्म की सिद्धि जड़ रूप में होगी और यह समझना श्रुति से सर्वथा

विपरीत है। इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्म आत्मा से भिन्न नहीं है, इसलिए आत्मा ब्रह्मरूप है।

आत्मा स्वयंप्रकाश कैसे है ? यह बताते हैं—जो स्वयं प्रकाशित रहे उसमें किसी अन्य की अपेक्षा न कर सब का प्रकाशक हो, उसे स्वयं प्रकाश कहते हैं तथा यह गुण आत्मा में होने के कारण आत्मा स्वयं-प्रकाश कहा गया है। अथवा सदैव अपरोक्ष रूप और किसी ज्ञान का विषय न हो, वह स्वयंप्रकाश कहा जाता है। आत्मा सदैव अपरोक्षरूप, प्रकाश रूप होने के कारण ज्ञान का विषय न होने से स्वयंप्रकाश है।

आत्मा कूटस्थ कैसे है ? इस पर प्रकाश डालते हैं—कूट का अर्थ अचल है। लोहार के घन को भी कूट कहते हैं, क्योंकि लोहार द्वारा अनेक घाटा गढ़ने पर भी वह ज्यों का त्यों रहा आता है। वैसे ही मन रूप लोहार व्यवहार रूप अनेक घाट गढ़ता है, फिर भी आत्मा यथावत रहता है। इससे आत्मा कूटस्थ सिद्ध हुआ।

आत्मा को साक्षी क्यों कहा गया ? इसका समाधान करते हैं—लोक व्यवहार में उदासीन, रागद्वेषरहित निर्पेक्ष होने से आत्मा साक्षी कहा जाता है। जो समीपवर्ती तथा चेतन हो वह साक्षी होता है और क्योंकि आत्मा भी देहादि के प्रति उदासीन, समीपवर्ती और चेतन है इसलिये आत्मा का साक्षी होना सिद्ध होता है। अथवा अन्तःकरण रूप उपाधि वाला साक्षी होता है, अथवा अन्तःकरण और उसकी वृत्तियों में वर्तमान चेतन मात्र साक्षी कहा जाता है। ऐसा होने के कारण आत्मा साक्षी है।

आत्मा द्रष्टा, और उपद्रष्टा कैसे हुआ ? इसका उत्तर देते हैं कि देखने वाले को द्रष्टा कहते हैं और आत्मा सब दृश्यों को देखती है, इसलिए वह द्रष्टा कहा जाता है। जैसे यज्ञशाला में यज्ञ-कार्य करने वाले पन्द्रह ऋत्विज, एक यजमान एक यजमान की पत्नी और अठारहवाँ निकट बैठ कर देखने वाला

होता है, वह यज्ञ-सम्बन्धी कुछ भी कार्य नहीं करता, इसलिए उपद्रष्टा कहा जाता है। वैसे ही स्थूल शरीर रूपी यज्ञशाला में पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच प्राण रूप पन्द्रह ऋत्वज्, मन रूप यजमान, बुद्धि रूप यजमान-पत्नी है। यह सभी अपने-अपने विषय को ग्रहण करने रूप भोगमय यज्ञ का कार्य करते हैं और इन सब का निकटवर्ती जानने वाला आत्मा उपद्रष्टा है।

एक आत्मा कैसे है ? यह बताते हैं—आत्मा का सजातीय अन्य आत्मा नहीं हैं और विजातीय संसार मिथ्या है, इससे आत्मा का एक होना सिद्ध हुआ। यह आत्मा के विधेय विशेषणों पर प्रकाश डाला गया। अब आत्मा के निषेध्य विशेषणों के विषय में कहना उपयुक्त होगा।

अनन्त, अखण्ड, असंग, अद्वितीय, अजन्मा, निर्विकार, निराकार, अव्यक्त, अव्यय तथा अक्षर

आदि आत्मा के निषेध्य विशेषण हैं । अनन्त कैसे हैं ? इसका समाधान यह है कि आत्मा व्यापक है, इसलिए उसका देश से अन्त नहीं । आत्मा नित्य है, इसलिए भी किसी काल में उसका अन्त नहीं होता । इससे आत्मा अधिष्ठान एवं सर्व स्वरूप है, उसका यथार्थ में कभी अन्त नहीं होता । जब किसी देश काल में अन्त नहीं तो उस आत्मा का अनन्त होना सिद्ध होता है ।

आत्मा अखण्ड कैसे है ? इस पर कहते हैं कि जीवन-ईश्वर भेद, जीवों का परस्पर भेद, जीव-जड़ का भेद, जड़-ईश्वर भेद और जड़-जड का भेद, यह पाँच भेद जो कहे हैं, आत्मा उनसे रहित है अथवा सजातीय-विजातीय स्वगत भेद से भी रहित होने के कारण उसका अखण्ड होना माना जाना है ।

असंग कैसे है ? यह वताते हैं—संग का अर्थ सम्वन्ध है, वह सम्बन्ध तीन प्रकार का है—(१)

सजातीय, (२) विजातीय, (३) स्वगत । स्वजाति में सम्वन्ध सजातीत सम्वन्ध है। जैसे कि ब्राह्मण का सम्वन्ध किसी ब्राह्मण से ही हो। अन्य जाति में सम्वन्ध हो वह विजातीय है। जैसे कि ब्राह्मण का सम्बन्ध किसी अन्य जाति में हो। अपने अवयवों से सम्वन्ध होना स्वगत-सम्वन्ध है, जैसे कि अपने हाथ-पाँव-शिर आदि से साथ सम्बन्ध हो। आत्मा एक है, इसलिए उसकी कोई जाति नहीं। जीव-ईश्वर आदि में तू-मैं का भेद उपाधि के कारण होने से मिथ्या है। इससे आत्मा का किसी के साथ सजातीय सम्वन्ध नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा अद्वैत एव सत् है। उससे भिन्न माया और माया का कार्य स्थूल सूक्ष्म प्रपंच प्रतीत होता है, वह असत् है और असत् का अर्थ कुछ न होना है, इसलिए आत्मा का किसी के साथ विजतीय सम्वन्ध भी नहीं वनता। अवयव-रहित आत्मा में सत्-चित्-आनन्द आदि तो आत्मा के अवयव नहीं है, किन्तु एक रूप होने से

आत्मा का किसी के साथ स्वगत सम्बन्ध भी नहीं है। इस प्रकार सर्व सम्बन्धों से रहित होने के कारण आत्मा असङ्ग है।

आत्मा अद्वैत कैसे है ? इसे बताते हैं कि द्वैत प्रपञ्च है, वह स्वप्न के समान कल्पित होने के कारण वास्तविक नहीं है। इस प्रकार आत्मा के द्वैत-रहित होने से उसका अद्वैत होना ही सिद्ध होता है।

आत्मा को अजन्मा कैसे कहते हो ? इस पर कहते हैं कि स्थूल शरीर का धर्म जन्म लेता है, किन्तु यह धर्म सूक्ष्म शरीर का भी नहीं है तो आत्मा का कहां से होगा ? इतने पर भी यदि आत्मा को जन्म होना मानें तो उसका मरना भी मानना पड़ेगा और ऐसा मानने पर आत्मा अनित्य हो जायगा। किन्तु परलोकवादी आस्तिक विद्वान् ऐसा नहीं मानते, क्योंकि जन्म-मरण वाली वस्तु का आदि-अन्त में अभाव है, इसे आत्मा के विषय में मानें तो यह

मानना होगा कि पूर्व जन्म में आत्मा नहीं था और न उनके कर्म ही थे और इस जन्म में उसे जो भोग प्राप्त हैं, वे कर्म के बिना ही हैं और मरने पर भी आत्मा नहीं रहेगी, तब इस जन्म में किये हुए कर्म बिना भोगे ही नष्ट हो जायेंगे। किन्तु ऐसा मानने पर वेदोक्त कर्म की व्यर्थता सिद्ध होगा। इससे यही मान्यता उचित है कि आत्मा का धर्म जन्म नहीं है, इसलिये आत्मा अजन्मा और अजर-अमर सिद्ध हुआ।

आत्मा निर्विकार कैसे है ? इस शंका का समाधान यह है कि घट के छः धर्म कहे हैं—जन्म, अस्तिभाव, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय और विनाश। किन्तु यह धर्म घट के ही हैं, उनसे भिन्न आकाश के नहीं। वैसे ही देह जन्म लेता है, जन्मा है, बढ़ा, युवा हुआ, वृद्ध हुआ और फिर मर गया। क्रमशः जन्म, अस्तिभाव, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय और

विनाश रूप यह छः विकार देह के धर्म हैं, किन्तु देह को जानने वाले और देह से भिन्न आत्मा के नहीं हैं। इस प्रकार आत्मा का निर्विकार होना सिद्ध है।

निराकार विषयक शङ्का का उत्तर देते हैं कि आकार चार हैं—स्थूल, सूक्ष्म, लम्बा, और छोटा। किन्तु आत्मा में इन आकारों का सर्वथा अभाव है। वह इन्द्रिय और मन के कारण स्थूम नहीं, व्यापक होने से सूक्ष्भ नहीं, सर्वत्र ओतप्रोत होने से लम्बा या छोटा नहीं। इस प्रकार आत्मा निराकार है।

मन-इन्द्रिय आदि का अगोचर होने से आत्मा अस्पष्ट एवं अव्यक्त है। आत्मा कभी क्षीण या व्यय नहीं होता, इसलिये अव्यय है। नाश रहित होने के अक्षर, अक्षय, अमृत और अविनाशी भी है। इस प्रकार आत्मा के निषेध्य विशेषण वताये गये।

यदि शङ्का करे कि आत्मा के विशेपणों में पारस्परिक भिन्नता कैसे है ? तो कहा जायगा कि सत्

चित्-आनन्द आदि को यदि गुण माना जाता तो उन में परस्पर भिन्नता होती । किन्तु यह आत्मा के गुण न होकर स्वरूप हैं, इसलिए यह अभिन्न है । क्योंकि एक ही आत्मा अविनाशी होने से सत्, जड़ से विलक्षण एवं प्रकाश रूप होने से चित् तथा दुःख से विलक्षण मुख्य प्रीति का विषय होने से आनन्द कहा जाता है । इस प्रकार उक्त विशेषणों से यही सिद्ध हुआ कि आत्मा के जो विशेषण कहे गये हैं, वे परस्पर भिन्न नहीं, वरन् अभिन्न हैं ।

—*—

अष्टम कला प्रारम्भ

सच्चिदानन्द विशेषण वर्णन

इन्द्र विजय छन्द

सच्चिदानन्द स्वरूपहि मैं यह,
सद्गुरु के मुख से पहिचान्यो।
जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति जु आदिक,
तीनहुँ कालहि में परमान्यो॥
जाग्रत् आदि लयावधि तीनहुँ,
कालहि हों इसते सत मान्यो,
तीनहुं काल विषे सब जानहुं,
या हित मैं चिद्रूपहि जान्यो॥१६॥
मैं प्रिय हूँ धन पुत्ररु पुद्गल,
आदिक ते त्रयकाल अगान्यो।

आतम अर्थ सवे प्रिय आतम ,
आपहि है प्रिय दुःख न सान्यो ।।
या हित मैं सब ते प्रियतम्म रु
हो परमानन्द दुःखहि भान्यो ।
देह दशादि अतीत सु आतम ,
पूरण ब्रह्म पीताम्बर गान्यो ।।१७।।

अर्थात्—मैं सच्चिदानन्द स्वरूप ही हूँ, यह सद्-गुरु के मुख से सुन कर पहिचान गया हूँ। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि में मैंने अपने को उनसे परे माना है। जाग्रत् आदि तीनों कालों में रहने से सत् मानता हूँ तीनों काल में काल सहित सब को मैं जानता हूँ, इसलिये स्वयं को मैंने चित् रूप जाना है। मैं धन, पुत्र और स्थूल देहादि से प्रिय रहकर त्रिकाल में अघा गया हूँ। आत्मा स्वयं ही प्रिय है और आत्मार्थक होने से धन-पुत्रादि सब प्रिय होते हैं,

इसलिये मैं दुःख से लिप्त नही हूँ और परमानन्द रूप होने के कारण मुझे दुःख का भान भी नहीं है। क्योंकि देह की दुःखादि दशाओं से रहित जो आत्मा है, उसे मुझ पीताम्वर ने पूर्ण ब्रह्म समझ कर गाया है ॥१६-१७॥

अव सत्-चित्-आदि के विषय में बताते हैं—तीनों काल में मैं हूँ, यह सत्, त्रिकाल में सब का जानने वाला चित् और त्रिकाल में प्रेम का विषय हो वह आनन्द है। जाग्रत्, स्वप्न,सुषुप्ति, प्रातः मध्याह्न, सायं, दिवस, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, सम्वत्सर आदि सभी कालों में मैं हूँ। ऐसे ही वाल्य, युवा, वृद्ध अवस्था, पूर्वदेह, इसदेह, भावी देह, युग, मनु, कल्प भूत, वर्तमान, भविष्य आदि सभी में होने के कारण मैं सत् हूँ।

मुझ से भिन्न नाम-रूप-वस्तु युक्त तीनों काल असत् हैं। सत् और असत् का निर्णय अन्वय व्यति-

रेक रूप युक्त से होता है। जो मैं जाग्रत् में हूँ, वही मैं स्वप्न में हूँ, इसलिए सत् हूँ। जाग्रत् मुझ में नहीं, इससे वह असत् है। जो मैं स्वप्न में हूँ, वही मैं सुषुप्ति में हूँ इसलिए सत् हूँ, किन्तु स्वप्न मुझ में न होने से असत् है। इसी प्रकार अन्यान्य सभी कालों, सभी अवस्थाओं, सभी जन्मों में हूँ, इसलिए सत् हूँ, किन्तु वे काल, अवस्था, जन्य आदि मुझ में नहीं हैं, इसलिए असत् हैं। इस प्रकार सत्-असत् के निर्णय में अन्वय व्यतिरेक रूप युक्त को जाना चाहिए।

चित् कैसे हैं ? इसका समाधान करते हैं–जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, प्रातः मध्याह्न, सायं, दिवस, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष, अवस्था, जन्म, मनु, कल्प, भूत, भविष्यत्, वर्तमान आदि सब को मैं जानता हूँ इससे चित् हूँ। चित् और जड का निर्णय अन्वय-व्यतिरेक रूप युक्त से होता है, जैसे कि जो मैं जाग्रत्

को जानता हूँ, वही मैं स्वप्न को जानता हूँ, इससे चित् हूँ और जाग्रत् मुझे नहीं जानता, इससे वह जड है। इसी प्रकार से चित् और जड़ के निर्णय में अन्वय व्यतिरेक रूप युक्ति समझे।

मैं आनन्द कैसे हूँ ? इस पर कहते हैं कि मैं तीनों काल में परम प्रिय हूँ, इससे आनन्द हूँ। क्योंकि मैं जाग्रत् आदि अवस्थाओं, प्रातः, मध्याह्न, दिवस, रात्रि पक्ष, मास, ऋतु, संवत्सर, भूत, भविष्यत्, वर्तमान आदि कालों, बाल्यादि अवस्थाओं, पूर्व, वर्तमान और भावी जन्मों आदि सभी में परमप्रिय हूँ, इसलिये आनन्द हूँ। मुझसे भिन्न नाम, रूप, वस्तु युक्त तीनों काल को दुःख रूप जाने।

आनन्द और दुःख का निर्णय भी अन्वय व्यतिरेक से होता है, यथा जो मैं जाग्रत् में परम प्रिय हूं, वही मैं स्वप्न में परम प्रिय हूं, इससे आनन्द हूं। किन्तु जाग्रत् मुझे प्रिय नहीं इससे जाग्रत् दुःख है।

मैं परम प्रिय हूँ यह कैसे जाना जाय ? तो दृष्टान्त है कि जैसे पुत्र के मित्र में जो प्रीति है, वह पुत्र के लिये है, इसलिये पुत्र में जो प्रीति है, वह उसके मित्र में नहीं हो सकती। इस प्रकार पुत्र अधिक प्रिय है। ऐसे ही, धन पुत्रादि में जो प्रीति है, वह आत्मा के लिये है, किन्तु आत्मा में जो प्रीति है, वह धन, पुत्रादि में नहीं होती। इससे आत्मा का अधिक प्रिय होना सिद्ध हूआ। इस प्रकार मैं परम-प्रिय हूँ, यह मान्यता युक्ति-युक्त है।

प्रिय के न्यूनाधिक भाव को कैसे जानें ? इसका समाधान करते हैं—जाग्रत् में द्रव्य सबसे अधिक प्रिय है। क्योंकि धन के लिए परदेश गया हुआ पुरुष द्रव्योपार्जन में अनेक उपाय करता है, जिसमें नीचे कर्म भी हो सकते हैं। इससे द्रव्य की प्रियता सिद्ध होती है। द्रव्य की अपेक्षा पुत्र अधिक प्रिय है। क्योंकि यदि पुत्र किसी दुष्ट कर्म के दण्ड स्वरूप

कारागार में वन्द हो तो द्रव्य व्यय करके भी उसे छुड़ाने का प्रयत्न किया जाता है। पुत्र से अधिक शरीर प्रिय है, क्योंकि दुष्काल में अर्थाभाव और पीडित होने पर पुत्र को भी वेच कर शरीर की रक्षा की जाती है। इससे पुत्र की अपेक्षा शरीर का अधिक प्रिय होना सिद्ध हुआ।

शरीर से इन्द्रिय अधिक प्रिय है। क्योंकि कोई शस्त्र लेकर आक्रमण करे तव इन्द्रियों को छिपाकर शरीर पर आघात झेलने की चेष्टा करता हुआ नेत्र, कान, नाक, मुख आदि को वचाना चाहता है। इन्द्रिय से प्राण प्रिय है, क्योंकि किसी अपराध में प्राणदण्ड होता हो तो अपराधी सोचता है कि चाहे मेरा धन, पुत्र, स्त्री, घर आदि सव कुछ लूट लो, किन्तु प्राण न लो। इस पर भी दंडाधिकारी न माने तो कहता है कि मेरे नाक, कान, हाथ, पाँव आदि काट लो पर प्राण मत लो। इससे इन्द्रियों से प्राण अधिक प्रिय है। प्राण से आत्मा प्रिय है, क्योंकि किसी

भयंकर व्याधि की पीड़ा सहन न करने पर कहता है कि इससे तो प्राण निकल जांय वही अच्छा। इससे सिद्ध हुआ कि प्राण से आत्मा अधिक प्रिय है। इस प्रकार से प्रीति का न्यूनाधिक भाव जाना जाता है।

—※—

नवम कला प्रारम्भ

अवाच्य सिद्धान्त वर्णन

—इन्द्र विजय छन्द—

ब्रह्म अहै मन वानि अगोचर
शास्त्र रु सन्त कहैं अरु ध्यावें ।
वेद वदें लच्छनादिक रीति रु
वृत्ति विआप्ति जनो मन लावें ।
हैं जु सदादि विधेय विशेषण
वे असदादिक भिन्न कहावें ।
सत्य अपेक्षिक आदि विरोधि जु
अंश तजी परमार्थ लखावें ॥१८॥

है जु अनन्त अखण्ड असंग रु
अद्वय आवि निषेध्य रहावें।
जे परपंच निषेध करी अव-
शेषित वस्तु गिराविनु गावें ॥
यूँ परमातम आतमदेव ही
वेद रु शास्त्र सबै सुरटावें।
पण्डित त्यागि अभास पीताम्बर
वृत्ति अहं अपरोक्षहि पावें ॥१९॥

अर्थात्—शास्त्र और सन्तान ब्रह्म को मन, वाणी से अगोचर कहते हुए ध्यान करते हैं। उसके ज्ञान के निमित्त वेद लक्षणादिक रीति को कहते हैं। ज्ञानी जन अज्ञाननाश रूप वृत्ति व्याप्ति को मन में रखते हैं। सत् आदि जो आत्मा के विधेय विशेषण हैं, वे असत् आदि से भिन्न कहे जाते हैं। आपेक्षित सत्य माया तथा अभेद ज्ञान में जो विरोधी अंश हैं, उन्हें त्याग कर परमार्थ को ही सब विशेषण दर्शाते

हैं ॥१८॥ जो अनन्त, अखण्ड, असंग, अद्वितीय आदि निषेध्य विशेषण हैं, वे प्रपंच का निषेध करके अवशिष्ट वस्तु को वाणी द्वारा न गायी जाने वाली बताते हैं। इस प्रकार वेद-शास्त्र परमात्मदेव और आत्मदेव को भली भाँति रटवाते हैं। पीताम्बर जी कहते हैं कि आभास को आत्मा में त्यागने पर 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है ॥१६॥

यदि शंका करे कि ब्रह्मात्मा वाणी का ही विषय नहीं, तब उसे सत् चित्, आनन्द आदि विशेषणों से कैसे कहते हो ? तो कहा जायगा कि ब्रह्मात्मा के अनेक विधेय विशेषण और अनेक निषेध्य विषेपण हैं। उनमें सत् आदि विधेय विलेषण प्रपञ्च का निषेध करने पर अवशिष्ट रहे ब्रह्म का लक्षणा द्वारा साक्षत् बोध करते हैं। तथा अनन्त आदि निषेध्य विशेषण साक्षात् प्रपञ्च का निषेध करते हैं। इससे विलक्षण ब्रह्मात्मा की सिद्धि अर्थ से ही होजाती है।

इस प्रकार ब्रह्मात्मा आवाच्य होने के कारण किसी विशेषण से नहीं कहा जाता।

सदादिक विधेय विशेषण प्रपंच का निषेध कर अवशिष्ट ब्रह्म का बोधन कैसे करते हैं ? इस शंका का समाधान है कि सत् कहने से असत् का निषेध होने पर सद्रूप शेष रहा जो कि लक्षणा से सिद्ध है। चित् कहने से दुःख का निषेध होकर चिद्रूप शेष रहा। आनन्द कहने से दुःख का निषेध हुआ, आनन्द रूप शेष रहा। ब्रह्म कहने से परिछन्न का निषेध हुआ और व्यापक शेष रहा। स्वयंप्रकाश कहने से पर प्रकाश का निषेध होने पर स्वयं प्रकाश ही शेष रहा। कूटस्थ कहने से विकार का निषेध हुआ और निर्विकारी शेष रहा, साक्षी कहने से साक्षी का निषेध होने पर साक्षी ही शेष रहा। द्रष्टा कहने से दृश्य का निषेध हुआ और द्रष्टा ही शेष रहा। उपद्रष्टा कहने से उपदृश्य का निषेध हुआ, तब उपद्रष्टा शेष रहा।

एक कहने से अनेक का निषेध हुआ तो एक ही शेष रहा। यह सब लक्षणा ये ही सिद्ध हैं। इसी प्रकार अन्य विधेय विशेषणों के विषय में भी समझना चाहिये।

अनन्तादि विधेय्य विशेषण प्रपञ्च का किस प्रकार निषेध करते हैं, इस पर समझाते हैं—अनन्त कहने से देश, काल, वस्तु, परिच्छेद का निषेध होता है, इससे अनन्त ही शेष रहता है, जो कि अर्थ से सिद्ध है। इसी प्रकार अन्य निषेव्य विशेषणों के विषय में समझिये।

यदि शंका करें कि इन विशेषणों का अर्थ इस प्रकार से करने का क्या प्रयोजन है तो कहेंगे कि चेतन को मन वाणी का अविषय कहने वाली श्रुति के अर्थ का अविरोध होता है, उससे गुण, क्रिया, जाति और सम्बन्धादि जो शब्द और मन की प्रवृत्ति के निमित्त रूप धर्म हैं, वे ब्रह्म में नहीं हैं. किन्तु

निर्धर्म होने के कारण ब्रह्म निर्विशेष है, इसी से श्रुति भी उसे मन-वाणी का अविषय होना कथन करती है। 'क्योंकि बोलना द्वैत से होता है, अद्वैत से नहीं, इससे इन विशेषणों का इस प्रकार अर्थ करने से श्रुति विरुद्ध द्वैत की सिद्धि भी नहीं होती और अद्वैत भी सरलता से समक्ष में आ जाता है।

—*—

दशम कला प्रारम्भ

सामान्यविशेषचैतन्य वर्णन

—इन्द्र विजय छन्द—

चेतन है जु सभान विशेष सु
दो विधि सत्य सुजान समानै ।
भ्रान्ति स्वरूप विशेषजुकल्पित
संसृति आश्रम सो तिहि भानै ।।
ज्योंरवि कौप्रतिबिम्बजलादिक
सो रवि रूप विशेष पिछानै ।
त्यों मति में प्रतिबिम्ब परातम
सो कलपीत विशेषहि जानै ।।२०।।
आवत जावत लोक प्रलोकहि
भोगत भोग जु कर्म निपानै ।

सो सब चित्त अभास करै अरु
शुद्ध समान मही नहिं मानै ॥
अस्ति रु भाति प्रिय सब पूरण
ब्रह्म समान जु चेतन मानै ॥
नाम रु रूप तजी सत चेतन
गोद पीताम्बर आप पिछानै ॥२१॥

अर्थात्—चेतन आत्मा सामान्य और विशेष के भेद से दो प्रकार का है, विवेकीजन समान रूप सत्य को ही आत्मा मानते हैं। क्योंकि विशेष तो भ्रान्ति रूप एवं कल्पित है संसृति का आश्रय विशेष को ही मानते हैं। जल में सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान जो सूर्य का विशेष रूप है, उसे कल्पित समझे ।२०। विशेष चेतन ही लोक-परलोक में आता-जाता है तथा कर्म से प्राप्त भोगों को भोगता है। व आवागमन आदि चित्त का आभास करता और शुद्ध

सामान्य चेतन में आवागमन को नहीं मानता अस्ति, भाति और प्रिय रूप से सर्व व्यापक सामान्य चेतन को ही ब्रह्म माने। पीताम्बरजी कहते हैं कि नाम रूप को छोड़कर सत्य चेतन आनन्द रूप स्वयं को पहिचानना चाहिये ॥२१॥

विशेष चैतन्य क्या है ? इस पर कहते हैं कि अन्तःकरण और उसकी वृत्तियों में सामान्य चैतन्थ का प्रतिविम्व रूप चिदाभास विशेष चैतन्य है। जो चैतन्य के लक्षण से रहित हो और चैतन्य के समान भासता हो, वह चिदाभास कहा जाता है। अल्प देश और काल में जो वस्तु हो, वह विशेप है। इससे चिदाभास अन्तःकरण देश और जाग्रत् स्वप्नकाल या अज्ञान काल में है। इससे विशेष चैतन्य कहते हैं। जैसे सूर्य .का प्रकाश सर्वत्र समान हैं, किन्तु प्रतिविम्ब सर्वत्र नहीं होता, क्योंकि जहाँ जल या दर्पण रूप उपाधि हो, वहाँ प्रतिबिम्ब रूप विशेप की प्रतीति होती है।

सामान्य रूप सदा ज्यों का त्यों होने से यथार्थ है तथा उपाधि से भासने वाला विशेष रूप व्यभिचारी होने से अयथार्थ है। ऐसे ही सामान्य चैतन्य अस्ति भाति प्रिय सर्वत्र समान है किन्तु उससे बोलना-चालना इत्यादि विशेष व्यवहार नहीं होता। जहाँ अन्तःकरण रूप उपाधि हो, वहाँ चिदाभास रूप से विशेष चैतन्य होकर बोलना, चालता- कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व, इहलोक-परलोक में आवागमन आदि विशेष व्यवहार होता है। उनमें सामान्य चैतन्य ब्रह्म सत्य है और उपाधिसे भासने वाला विशेष चैतन्य चिदाभास मिथ्या है। ऐसे ही कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व, आवागमन, जन्म-मरण एवं चौरासी लाख योनि की प्राप्ति इत्यादि साँसारिक धर्म भी चिदाभास के होने के कारण मिथ्या हैं। इससे निश्चय होता है कि विशेष चैतन्य चिदाभास के धर्म मैं नहीं तथा मेरे नहीं हैं, वरन् मेरे में कल्पित हैं। मैं इसका अधिष्ठान सामान्य चेतन इनसे भिन्न हूँ।

सामान चैतन्य क्या है ? यह वताते हैं। आकाश के समान सर्वत्र परिपूर्ण, सर्वनाम रूप अधिष्ठान, अस्ति, भाँति, प्रिय रूप निर्विकार ब्रह्म ही सामान्य चैतन्य है। अधिक देश काल में स्थित वस्तु सामान्य कही जाती है, और ब्रह्म बुद्धि द्वारा कल्पित सब देश-काल में व्यापक है। इसलिए ब्रह्म सामान्य चैतन कहा जाता है। जैसे एक ही रस्सी में अनेक पुरुषों को सर्प, दण्ड, पृथिवी की रेखा या जल-धारा आदि की भ्रान्ति पृथक्-पृथक् दिखाई देती है। वह भ्रान्ति सामान्य इदं अंश और विशेष अंक के भेद से दो प्रकार की है। सामान्य इदं अंश रस्सी रूप है' ऐसी मान्यता है और दूसरे सर्पादि विशेष अंश में यह दंड है, यह सर्प है, यह भू-रेखा है, यह जल की धारा है, इत्यादि का अभास होता है। इसमें सामान्य इदं अंश भ्रान्ति काल में भी भासता है और भ्रान्ति की निवृत्ति होने पर भी भासता है। इससे सामान्य इदं अंश अव्यभिचारी होने के कारण सत्य है तथा

सर्पादि रूप विशेष अंश परस्पर व्यभिचारी होने से कल्पित है।

सब पदार्थों में पाँच अंश हैं—अस्ति, भाति, प्रिय, नाम और रूप। 'घट है' यह अस्ति, 'घट भासता है' यह भाति, 'यह घट जल भरने में उपयोगी है' यह प्रिय, 'घट' यह दो अक्षर का नाम तथा 'घट मोटा, गोल और सुन्दर है' यह रूप है। घट के समान अन्य सब भूतों के विषय में भी ऐसे ही समझना चाहिए।

अस्ति, भाति और प्रिय अर्थात् सत्, चित् और आनन्द स्वरूप ब्रह्मात्मा उन-उन सभी पदार्थों में व्यापक तथा अधिष्ठान रूप से सर्व कारण है। इसलिए सब से सूक्ष्म तथा अधिक देश-काल युक्त है। जो जिसका कारण होता है, वह अपने-अपने कार्य से अधिक व्यापक और नित्य होता है। सभी पदार्थों में अस्ति आदि पाँचों अंश रहते हैं। हिंसक या

विषैले जीवों में भी इन अंशों का रहना स्वाभाविक है। सिंह सिंहनी के लिये तथा सर्प सर्पिणी के लिये प्रिय होता है। औषधि रूप में दिया जाने पर विष भी अमृत के समान प्रिय हो जाता है। पाँच अंशों में अस्ति, भाति और प्रिय ब्रह्मात्मा रूप से घटादि सर्व पदार्थों में व्यापक तथा सत्य है, किन्तु घट के नाम रूप पट में और पट के नाम रूप घट में नहीं होते, इससे पर-पर व्यभिचारी ये नाम, रूप मायिक होने से मिथ्या हैं। इसी प्रकार मन, बुद्धि आदि सभी पदार्थों में तीन-तीन अंश सत्य और दो-दो अंश असत्य हैं।

कार्य स्थूल और परिच्छिन्न तथा कारण सूक्ष्म और व्यापक होता है तथा ब्रह्म सर्व कारण होने से सर्वाधिक सूक्ष्म और व्यापक है। समुद्र में जल का फेन कठिन होने से समझा जाता है कि पृथिवी जल का कार्य है। इस कारण पृथिवी से जल अधिक

सूक्ष्म और व्यापक है। अग्नि तथा धूप आदि के ताप से जल रूप स्वेद निकलता है, इससे जाना जाता है कि जल अग्नि का कार्य होने से अग्नि जल से अधिक सूक्ष्म और व्यापक है। अग्नि का जन्म और नाश वायु से होता है, इससे अग्नि वायु का कार्य जाना जाता है। इसलिए अग्नि की अपेक्षा वायु अधिक सूक्ष्य और व्यापक है। वायु की उत्पत्ति आकाश से होती और लय भी आकाश में होता है, इससे जाना जाता है कि वायु आकाश का कार्य है। इसलिये वायु से आकाश अधिक सूक्ष्म और व्यापक है।

इसी प्रकार 'आकाश से आगे क्या होगा ? मैं नहीं जान सकता, बुद्धि के इस कुण्ठित भाव का आश्रय अज्ञान समझा जाता है। इससे समझना चाहिए कि आकाश अज्ञान कार्य है और आकाश की अपेक्षा अज्ञान अधिक सूक्ष्म और व्यापक है। अथवा आकाश त्वचा से नहीं, मन से ग्रहण होता

है तथा अज्ञान मन से भी ग्रहण नहीं होता और गुण अधिक बताया है।

किन्तु उक्त अज्ञान का प्रकाश जानने वाले चेतन से होता है तथा अज्ञान है, अज्ञान भासता है, अज्ञान अज्ञानी को प्रिय है, इस प्रकार अज्ञान में अनुस्यूत अस्ति, भाति, प्रिय रूप ब्रह्म चेतन भासता है। इससे अज्ञान चेतन ब्रह्म के आश्रित है और अज्ञान की अपेक्षा चेतन ब्रह्म अधिक सूक्ष्म और व्यापक है। अथवा अज्ञान मन के द्वारा ग्रहण नहीं होता, वरन् 'मैं नहीं जानता' इस अनुभव से उसका अनुमान होता है। तथा चेतन ब्रह्म स्वयं प्रकाश रूप होने से किसी भी प्रमाण का विषय नहीं है। शरीर में तिल या ब्रण के समान ब्रह्म के एक देश में अज्ञान स्थित है तथा अवशिष्ट ब्रह्म शुद्ध स्वयंप्रकाश है, ऐसा श्रुति में कहा है। इस प्रकार भी वह चेतन ब्रह्म अज्ञान से अधिक सूक्ष्म और व्यापक सिद्ध होता

है। इससे यह निश्चय हुआ कि अस्ति, भाति, प्रिय स्वरूप सामान्य चैतन्य ब्रह्म मैं हूँ और नाम, रूप युक्त जगत् कल्पित है। इस प्रकार के निश्चय से सर्व अनर्थ की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति रूप मोक्ष होती है।

—:※:—

एकादश कला प्रारम्भ

तत् एवं पदार्थैक्य निरूपण

—इन्द्र विजय छन्द—

वाच्य रु लक्ष्य लखी तत् त्वं पद
लक्ष्य दुहूँ कर एक दृढ़ावै ।
भिन्न जु देशहि काल सु वस्तु रु
धर्म समेत उपाधि उड़ावै ।।
जन्मथिती लयकारक मायिक
जाननहार सभी जग भावै ।
ईश्वर वाच्य सु है ततपादहि
ब्रह्म सुलक्ष्य उपाधि अभावै ।।२२।।
संसृति मानस आपहि में पर-
तन्त्र अविद्यक अल्प जनावै ।

त्वंपद वाच्य सुजीव विवेचित
लक्ष्य सुसाक्षि उपाधि ढहावै ।।
वाच्य दुअर्थ हि भेद वि है पुनि
लक्ष्य विभेद न रंचक गावै ।
ब्रह्म अहं इस भाँति जु जानत
सोई पीताम्बर ब्रह्महि पावै ।।२३।।

अर्थात्—तत् और त्वं दोनों पद के प्रथम वाच्य को समझ कर तथा दोनों के लक्ष्य को एक करके दृढ़ निश्चय करे। उन पदार्थों में जो भिन्न-भिन्न देश, काल, वस्तु और धर्म प्रतीत होते हैं, उनके सहित उपाधियों को त्याग दे। जन्म, स्थिति और लय के करने वाला तथा सब कुछ जानने वाला मायिक ईश्वर सबको भाता है। वही ईश्वर तत्पद का वाच्यार्थ एवं उपाधि का अभाव होने पर शुद्ध

ब्रह्म अवशिष्ट रहता है, वही लक्ष्य है ॥२२॥ अपने में संसृति को जो मानता है, वह परतन्त्र एवं अविद्यक है, इसलिए स्वयं को अल्प प्रकट करता है, वह त्वं पद का वाच्य है। अविद्यादि रूप उपाधि को त्यागने पर जो सुसाक्षी रूप लक्ष्य कहा जाता है, वहाँ वाच्य द्विअर्थक एवं भेद युक्त है तो भी विवेकी पुरुष उन भेदों को किंचित् भी नहीं गाते। पीताम्बर जी कहते हैं कि 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जो जानता है, वही ब्रह्म को प्राप्त होता है॥२३॥

'तत्' और 'त्वं' पद क्या हैं ? यह बताते हैं—छान्दोग्योपनिषत् के षष्ठ प्रपाठक में उद्दालक मुनि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को जो उपदेश किया, उसके 'तत्वमसि' महावाक्य का प्रथम पद 'तत्' है। उस तत् पद का वाच्यार्थ ईश्वर और लक्ष्यार्थ शुद्ध ब्रह्म है। तत्वमसि' का दूसरा पद 'त्वं' है, उसका वाच्यार्थ जीव और लक्ष्यार्थ कूटस्थ साक्षी है तथा

तत्वमसि महावाक्य का अर्थ जीव ब्रह्म की एकता है।

शब्दार्थ के साथ जो सम्बन्ध है, वह शब्द की वृत्ति है। वह वृत्ति शक्तिवृत्ति और लक्षणावृत्ति के भेद से दो प्रकार की है। शब्द में अर्थ का ज्ञान करने वाला जो सामर्थ्य रूप है, उसका शब्द से वही साक्षात् सम्बन्ध है, शब्द की शक्ति वृत्ति है तथा शक्तिवृत्ति से जाने हुए अर्थ के साथ परम्परा रूप सम्बन्ध है, वह शब्द की लक्षणा-वृत्ति है। उनमें शक्तिवृत्ति का ओ अर्थ जाना जाय वह शब्द का वाच्यार्थ तथा शक्य कर्थ या मुख्य भी कहा जाता है। लक्षणावृत्ति का ओ अर्थ जाना जाय वह शब्द का लक्ष्यार्थ कहलाता है लक्षणावृत्ति जहत्, अजहत् और भागत्याग के भेद से तीन प्रकार की है। जहाँ सम्पूर्ण वाच्यार्थ को छोड़ कर वाच्यार्थ के सम्वन्धी का ग्रहण हो, वह जहत् लक्षणा है। जैसे गंगातीर पर गाय का गोष्ठ है, उसके विषय में किसी

ने बताया कि गाय का गोष्ठ गंगा में है। किन्तु गंगा पद का वाच्यार्थ गंगा नदी का प्रवाह है, जिसमें गोष्ठ होना संभव नहीं, इसलिये गंगा नदी के प्रवाह वाले समूचे वाच्यार्थ को त्याग कर उसके सम्बन्धी तीर का ग्रहण होता है।

जहाँ वाच्यार्थ का त्याग न करते हुए उसके सम्बन्धी का ग्रहण हो, वह अजहत् लक्षणा है। जैसे कोई कहे कि शोण अर्थात् लाल रंग दौडता है। किन्तु लाल रंग का दौड़ना संभव न होने से लाल रंग वाला दौड़ता है, ऐसा बोध वाच्यार्थ को न छोड़ कर उसके सम्बन्धी अधिक अर्थ का ग्रहण होता हो, यह अजहत् लक्षणा हुई।

जहाँ विरोधी कुछ वाच्य भाग का त्याग करके उसके सम्बन्धी अविरोधी कुछ वाच्य भाग का ग्रहण हो, वह भाग त्याग लक्षणा है। जैसे कि पहिले किसी देश में देखे हुए पुरुष को अब अन्य देश में देख कर

कहा जाय कि उस देश-काल में जो पुरुष देखा था, वह इस देश में आज देखा है। यहाँ उस देश-काल इस देश-काल रूप वाच्य भाग की एकता का विरोध होता है, इससे देशकाल पर ध्यान न देकर 'वह पुरुष यही है' इस प्रकार के अविरोधी वाच्य भाग का ग्रहण होता है।

महावाक्य में कौन-सी लक्षणा संभव है? इस पर प्रकाश डालते हैं। जहाँ जहत् लक्षणा हो, वहाँ सम्पूर्ण वाच्यार्थ का त्याग होता है। यदि महावाक्य में जहत् लक्षणा मानें तो 'तत्' 'त्वं' पद के वाच्यार्थ में प्रविष्ट ब्रह्मचैतन्य और साक्षीचैतन्य का त्याग हो जायगा और तब उनसे भिन्न असत् जड़ एवं दुःख रूप प्रपञ्च का ग्रहण करना पड़ेगा। अथवा समष्टि व्यष्टि प्रपञ्चमय उपाधि का भी त्याग करने पर अवशिष्ट शून्य का ग्रहण करना होगा, जिससे महा अनर्थ की प्राप्ति होगी और पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं

होगी इसलिये महावक्य में जहत् लक्षणा संभव नहीं है।

जहाँ अजहत् लक्षणा हो, वहाँ वाच्यार्थ का किंचित् भी त्याग नहीं होता तथा अधिक अर्थ का ग्रहण होता है। यदि महावाक्य में अजहत् लक्षणा मानें तो पद का वाच्यार्थ यथावत् बना रहकर उसके साथ शून्य रूप अधिक अर्थ के ग्रहण से एकता का विरोध दूर नहीं होगा। इससे महावाक्य में अजहत् लक्षणा भी संभव नहीं है।

जहाँ भागत्याग लक्षणा हो, वहां विरोधी भाग का त्याग करने पर अविरोधीं भाग का ग्रहण होता है। यदि महावाक्य में भाग त्याग लक्षणा मानें तो 'तत्' 'त्वं' पद के वाच्यार्थ में से धर्म सहित माया और अविद्या रूप विरोधी भाग का त्याग होकर अविरोधी असंग शुद्ध चेतन भाग का ग्रहण होता है, जिससे उनकी एकता भी बनती है और परम

पुरुषार्थ की प्राप्ति भी होती है। इस प्रकार महावाक्य में भागत्याग लक्षणा भी संभव है।

• तत् पद का वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ बताते हुए कहते हैं कि अव्याकृत माया ईश्वर का देश और उत्पत्ति, स्थिति, एवं प्रलय यह तीन् ईश्वर के काल है। सत्व, रज और तम यह तीन ईश्वर की वस्तु अर्थात् सृष्टि की सामग्री है। विराट् हिरण्यगर्भ और अव्याकृत ईश्वर के शरीर एवं वैश्वानर सूत्रात्मा और अन्तर्यामी यह तीन ईश्वरतत्व के अभिमानी हैं। ,मैं एक हूँ, बहुरूप हो जाऊँ' ऐसी ईक्षणा को लेकर सृष्टि में जीव रूप से प्रविष्ट होना ईश्वर का कार्य है। सर्वशक्तिता, सर्वज्ञता, व्यापकता, एकता, स्वाधीनता, समर्थता, परोक्षता और मायिकता यह आठ ईश्वर के धर्म हैं। इन सब के सहित माया और उसमें प्रतिविम्ब रूप चिदाभाण तथा इनका अधिष्टान ब्रह्म, यह सब मिल कर ईश्वर कहलाते हैं। यही

'तत्' पद का वाच्यार्थ है तथा सबके सहित माया और चिदाभास भाग का त्याग कर अवशिष्ट रह विराट्, हिरण्यगर्भ और अव्याकृत का अधिष्ठान ईश्वर साक्षी शुद्ध ब्रह्म 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ है। •

• ब्रह्म का और माया में प्रतिविम्ब रूप ईश्वर का परस्पर अध्यास कैसे है ? इस विषय में कहते हैं कि इसका कारण अविचार दृष्टि है। ब्रह्म की सत्ता का ईश्वर में संसर्ग अध्यस्त है, इससे ईश्वर सत्य होता है तथा ईश्वर और उसकी कारणता का स्वरूप ब्रह्म में अध्यस्त है, इससे ब्रह्म जगत् का कारण प्रतीत होता है। इस प्रकार ब्रह्म और ईश्वर का परस्पर अध्यास समझना चाहिये और उस अध्यास की निवृत्ति विवेक ज्ञान से हो सकती है। •

• अब त्वं पद का वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ बताते हैं। नेत्र, कण्ठ और हृदय यह तीन जीव के देश तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति यह तीन काल हैं।•

स्थूल सूक्ष्म और कारण भोग सामग्री तथा शरीर है। विश्व, तैजस और प्राज्ञ जीवत्व के अभिमानी तथा जाग्रत् से मोक्ष पर्यन्त भोग रूप जगत् जीव का कार्य है। अल्पशक्तिता, अल्पज्ञता, परिच्छिन्नता, भिन्नता, पराधीनता, असमर्थता, अपरोक्षता और अविद्या उपाधिवानता—यह आठों जीव के धर्म हैं। इन सब के सहित अविद्या और उसमें प्रतिविम्ब रूप चिदाभास तथा उनका अधिष्ठान कूटस्थ यह सब मिल कर जीव कहलाता है और वही जीव त्वं पद का वाच्यार्थ है तथा इन सब के सहित चिदाभास भाग का त्याग करके अवशिष्ट रहा स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर का अधिष्ठान जीव साक्षी कूटस्थ आत्मा त्वं पद का लक्ष्यार्थ है।•

• कूटस्थ का और बुद्धि में प्रतिविम्ब रूप जीव का परस्पर अध्यास भी अविचार दृष्टि से है। कूटस्थ की सत्यता का संसर्ग जीव में अध्यस्त होने

से जीव मिथ्या प्रतीत नहीं होता तथा जीव और उसके कर्तृत्व आदि धर्म का स्वरूप कूटस्थ में अध्यस्त होने से कूटस्थ अकर्त्ता, अभोक्ता, असंसारी असंग एवं नित्ययुक्त ब्रह्मरूप प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार कूटस्थ और जीव का परस्पर अध्यास है, जिसकी निवृत्ति ज्ञान से होती है।

तत् और त्वं पद की एकता कैसे संभव है ? इस शंका पर कहा जायगा कि यद्यपि तत् पद और त्वं पद के वाच्यार्थ उपाधि चैतन्य ईश्वर और जीव हैं, उनकी एकता का विरोध है, तथापि तत् पद का लक्ष्यार्थ ब्रह्म और त्वं पद का लक्ष्यार्थ आत्मा होने से उनकी एकता का किंचित् भी विरोध नहीं है। इससे महावाक्य में कही गई तत् एवं त्वं पद के अर्थ की एकता संभव है।

ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान चिदाभास को होता है। जीव भाव के अधिष्ठान कूटस्थ का

ब्रह्म से मुख्य अभेद है। बुद्धि रहित चिदाभास का ब्रह्म से अपने स्वरूप को बाध करके अभेद होता है. इससे चिदाभास अपने स्वरूप का बाध करके स्वयं को अहं शब्द के लक्ष्यार्थ कूटस्थ का 'मैं कूटस्थ हूँ' ऐसा अभिमान करता हुआ 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जानता है। इस प्रकार चिदाभास स्वय को ब्रह्मरूप करके जानता है।

जैसे घट मठ उपाधि सहित घटाकाश और मठाकाश की एकता का विरोध होने पर भी घट मठ रूप उपाधि की दृष्टि को त्याग कर केवल आकाश की एकता का विरोध नहीं है। अथवा जैसे गंगाजल और गंगाजल का कलश उनकी उपाधि नदी और कलश की एकता का विरोध है, किन्तु दोनों में गंगाजल है, इसलिए गंगाजल की एकता का विरोध नहीं है।

अन्य दृष्टान्त—जैसे काशी के राजा को किसी यात्री ने सवारी में निकलते देखा। फिर वह यात्री

अपने देश को चला गया और कुछ दिन बाद शत्रु ने आक्रमण करके काशी के राजा को हरा कर राज्य से बाहर निकाल दिया। तब वह राज्य से निकाला हुआ राजा साधु वेश में यात्रा करता हुआ उसी यात्री के ग्राम में जा पहुँचा, जिसने पहिले उसे सवारी पर निकलते देखा था। उस यात्री पुरुष ने पदच्युत राजा को देख कर अपने साथियों से कहा कि हमने काशी में जो राजा देखा था, वह यही है। तब उसके साथी ;बोले कि वह देश, काल, सामग्री, अभिमान, कार्य और धर्म अन्य थे और यह देश काल, सामग्री, अभिमान, कार्य और धर्म अन्य हैं। उस काशी के राजा की और इस भिक्षुक की एकता कैसे हो सकती है ? इस पर उस प्रथम यात्री पुरुष ने कहा—उसके और इसके देश, काल, सामग्री, अभिमान, कार्य और धर्म में अनुगत (अनुस्यूत) जो पुरुष भाव है, वह एक ही है। -सी प्रकार जीव और ईश्वर के देशकाल आदि को छोड़ कर दोनों में

जो चेतन ब्रह्म और आत्मा है, वह एक ही है। इससे मैं ब्रह्म हूँ ऐसा दृढ़ निश्चय होता है, यही तत्व ज्ञान है और इसी से सब दुःखों की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति रूप मोक्ष होती है।

—*—

द्वादश कला प्रारम्भ

ज्ञानिकर्मनिवृत्तिप्रकार वर्णन

तोटक छन्द

जिन आतम रूप पयो जु भले,
तिहि त्रैविध कर्म मिटैं सकले।
तम आवृति आश्रित संचित ले,
निज बोध सुपावक सर्व जले ॥२४॥

जड़ चेतन गाँठ विभेद बले,
दृढ़ राग दवेष कषाय गले,
जल में जिमि लिप्त न कंज दले,
पर से न अगामि जु कर्म मले ॥ २५ ॥

इस जन्म अरम्भक कर्म फले,
सुख दुःखहि भोगत होत प्रले।

इस भाँति जु होवत जन्म बिले,
पिख रूप पीताम्बर स्वं विमले ॥२६॥

अर्थात्—जिन्होंने आतमरूप का भले प्रकार अनुभव किया, उनके तीनों प्रकार के सब कर्म मिट गये। ज्योंकि अज्ञान की आवृत्ति के आश्रय में जो सञ्चित कर्म करता है, वे निजाम बोध रूप श्रेष्ठ पावक में भस्म हो जाते हैं ॥२४॥ जड़-चेतन की गाँठ रूप विभेद भी जल जाते तथा दृढ़ राग द्वेष-कषाय गल जाते हैं। जैसे जल में कमल लिप्त नहीं होता, वैसे कर्म रूप मल ज्ञानी को स्पर्श भी नहीं करता ॥२५॥ इस जन्म के आरम्भ कर्म का सुख-दुःख रूप फल भोग से ही उन कर्मों का प्रलय (क्षय) हो जाता है। इस प्रकार से जन्म के हेतु रूप कर्मों की निवृत्ति हो जाने पर, पीताम्बर जी कहते हैं कि अपने विमल रूप को देखना संभव होता है ॥२६॥

अब इस विषय को स्पष्ट समझाते हैं —मनवाणी और शरीर से जो क्रिया की जाती है, वह कर्म है।

कर्म के तीन भेद हैं—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। उनमें अतीत के अनेक जन्मों में सञ्चय किया कर्म सञ्चित कर्म कहा जाता है। अनेक सञ्चित कर्मों के मध्य से परिपक्व हुआ तथा ईश्वरेच्छा से जो वर्तमान शरीर का आरम्भक हो, वह कोई एक संचित कर्म ही प्रारब्ध कर्म है। ज्ञान होने से पूर्व अथवा पश्चात् इस वर्तमान शरीर से मरण पर्यन्त जो कर्म किया जाता है, वह क्रियमाण कर्म है।

ज्ञानी के कर्म की निवृत्ति कैसे होती है? इसे बताते हैं—ज्ञान के द्वारा अज्ञान के आवरण अंश की निवृत्ति हो जाती है और जब आवरण का निबारण हो जाता है तब आवरण को आश्रय करके स्थित जो पूर्व जन्मों के सञ्चित कर्म हैं, उन सबकी निवृत्ति हो जाती है।

ज्ञान होने के पूर्व और पश्चात् इस जन्म में किये हुए क्रियमाण कर्म का 'मैं अकर्त्ता, अभोक्ता एवं

असंग ब्रह्म हूँ' इस प्रकार के दृढ़ निश्चय के प्रभाव से नाश करके तथा राग-द्वेषादि का भी त्याग द्वारा अभाव करके जल में स्थित कमल पत्र के जल से लिप्त न होने के समान, ज्ञानी भी कर्म से लिप्त नहीं होता। किन्तु ज्ञानी पुरुष के इस जन्म में किये शुभ और अशुभ क्रियमाण कर्म का क्रम से सुहृदजन और द्वेषी पुरुष भी भोगते हैं, ऐसी मान्यता है। उनमें सुहृदजन, सेवकादि उसके पुण्य फल का भाग पाते हैं और द्वेषी, निन्दकादि उसके पापफल का भाग प्राप्त करते हैं। क्योंकि स्वयं ज्ञानी तो पुण्य-पाप के फल-भोग से निवृत्त एवं असंग होता है।

ज्ञान की प्राप्ति में लगे हुए पुरुष की मुक्ति में तभी तक की देर रहती है, जब तक कि वह अपने पूर्व जन्म के प्रारब्ध कर्म से मुक्त नहीं हो जाता। यद्यपि सञ्चित कर्म का नाश शीघ्र हो जाता है, किन्तु प्रबलता के कारण प्रारब्ध कर्म के नाश में कुछ काल

तक बाधा बनी रहती है। किन्तु अज्ञान की विक्षेप शक्ति के आश्रित ज्ञानी के किसी एक पूर्व जन्म में किये प्रारम्भ कर्म की इस जन्म के आरम्भक कर्म के भोग से निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार ज्ञानी सब कर्मों से मुक्त होने के कारण कर्म से उत्पन्न जन्मादि रूप संसार से भी मुक्त हो जाता है।

- ☼—

त्रयोदश कला प्रारम्भ

सप्तज्ञान भूमिका वर्णन

तोटक छन्द

निज बोधक भूमि सु सप्त अहै,
इस भाँति वसिष्ठ मुनिश कहै ।

शुभ साधन सम्मति आदि लहै,
श्रवणादि विचार द्वितीय वहै ॥२७॥

निदिध्यासन तीसर भूमि गहै ,
अपरोक्ष निजातम चौथि चहै ।

हमता ममता बिन पंचम है ,
छटवीं सब वस्तु अकार दहै ॥२८॥

सतमी तुरिया जु वरिष्ठित है ,
सब वृत्ति विलीन चिदात्म रहै ,

इव गाढ़ सुषुप्ति न जागत है।
परमानन्द मत्त पीताम्बर है ॥२६॥

अर्थात्—निज बोध की सात अवस्थाएँ हैं, यह वसिष्ठ मुनि का कथन है। शुभ साधन, सम्मति आदि से युक्त शुभेच्छा नाम की पहली, श्रवणादि रूप सुविचारण दूसरी, निदिध्यासन तीसरी, सत्वापत्ति चौथी, अहंता-ममता का त्याग पाँचवीं, पदार्थाभाविनी छटवीं और तुरीयगा सातवीं भूमिका है। सब वृत्ति विलीन होने पर चिदात्मा में लीन रहने पर गाढ़ सुषुप्ति के समान रहता हुआ ज्ञानी जागता नहीं, वही पीताम्वरजी के अनुसार परमानन्द में मत्त पुरुष है ॥२७-२६॥

सब ज्ञानियों का एक निश्चय होते हुए भी ज्ञान भूमिका के भेद से स्थिति का भेद प्रतीत होता है। यह ज्ञान भूमिका सात प्रकार की हैं—(१) शुभेच्छा, (२) सुविचारणा, (३) तनुमानसा, (४) सत्वापत्ति,

(५) असंसक्ति, (६) पदार्थभाविनी और (७) तुरीयगा ।

पूर्व जन्म में या इस जन्म में किये हुए निष्काम कर्म यौर उपासना आदि से शुद्ध तथा एकाग्र चित्त वाले पुरुष को विवेक, वैराग्य, षडैश्वर्य और मोक्ष की इच्छा यह चारों साधन होने पर आत्मा क जानने की तीव्र इच्छा हो, वह शुभेच्छा नाम की प्रथम भूमिका है ।

आत्मा के जानने की तीव्र इच्छा उत्पन्न होने पर विधिपूर्वक ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाकर उनके मुख से जीव ब्रह्म की एकता का वोध कराने वाले उपदेश को सुन कर और उस सुने हुए अर्थ का अनेक युक्तियों से विचार करे, वह सुविचारणा नाम की द्वितीय भूमिका है ।

स्वरूप के साक्षात्कार अर्थात् अपरोक्ष अनुभव के लिये श्रवण मनन के द्वारा निर्णीत ब्रह्मात्मा की

एकता एवं अर्थ के निरन्तर चिन्तन रूप निदिध्यासन से बहिर्मुख मन की अन्तर्मुखता हो, वह तनुमानसा नाम्नी तृतीय भूमिका है।

श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा संशय, विपर्यय से रहित होकर स्वरूप साक्षात्कार रूप निर्विकल्प स्थिति के होने पर तत्वज्ञान युक्त मन रूप शुद्ध अन्तःकरण की प्राप्ति होना सत्वापत्ति नाम्नी चतुर्थ भूमिका है।

निर्विकल्प समाधि के अभ्यास की परिपक्वता होने पर शरीर में अहंता, ममता के सर्वथा जल जाने पर देहादि के प्रति आसक्ति का सर्वथा अभाव हो जाय, वह असंसक्ति नाम की पञ्चम भूमिका है।

अतिशय निर्विकल्प समाधि के अभ्यास से शरीरादि सर्व पदार्थ का अधिष्ठान ब्रह्मरूप से प्रतीत होने पर जो अप्रतीति अर्थात् अभाव हो, वह पदार्थाभाविनी नाम की षष्ठ भूमिका है।

ज्ञाता, ज्ञान ओर ज्ञेय रूप त्रिपुटी की चौथी और पाँचवीं भूमिका के समान भाव रूप से तथा षष्ठ भूमिका के समान अभाव रूप से भी जो प्रतीत न हो वह स्वरूप से उत्थानरहित स्वरूप में स्थित तुरीयगा नाम की सप्तम भूमिका है।

प्रथम-द्वितीय और तृतीय भूमिका तत्व ज्ञान की साधन रूप हैं तथा चतुर्थ भूमिका तत्वज्ञान रूप होने के कारण जीवनमुक्ति और विदेह मुक्ति की साधन है। क्योंकि चतुर्थ भूमिका वाला ज्ञानी ब्रह्म-विद् कहा जाता है। पञ्चम, षष्ठ और सप्तम भूमिकाएं जीवन्मुक्ति का विलक्षण आनन्द-साधन रूप होती हैं। इनमें पंचम भूमिका वाला ज्ञानी ब्रह्मविद्वर षष्ठ भूमिका वालाब्रह्मविद्वरीयान् तथा सप्तम भूमिका वाला ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहलाता है। पंचम भूमिका में ज्ञानी विलक्षण आनन्द का अनुभव करता तथा षष्ठ भूमिका में सुप्त के समान स्थिति रहती है। सप्तम

भूमिका में परम उपाशान्त स्वरूप अवस्था होती है। उसमें स्थित ज्ञानी सतत आत्मनिष्ठ एवम् परमानन्द में लीन रहता है।

— ※ —

चतुर्दश कला प्रारम्भ

जीवन्मुक्ति विदेहमुक्ति वर्णन

तोटक छन्द

जब जानत है निज रूपहि को,
तब जीवन्मुक्त समीपहि को।
भ्रम बन्ध निवृत्ति सन्देहदि को,
सुख सम्पति होवत गेहहि को ॥३०॥
विद्वान तजै इस देहशहि को,
तब पावत मुक्ति विदेहहि को।
तम लेश भजे सद नाशहि को,
तजि देत प्रपंच अभासहि को ॥३१॥
सरिता इव सागर देशहि को,
चिनमात्र विलाप विशेषहि को।

चिद होय भजे अवशेषहि को,
नहिं जन्म पीताम्बर शेषहि को ॥३२॥

अर्थात् जब ज्ञानी अपने स्वरूप को जान लेता है, जब जीवनमुक्ति उसके निकट ही रहती है। भ्रम, बन्ध, संदेह की निवृत्ति होकर शरीर रूप घर को सुख की प्राप्ति होती है ॥३०॥ फिर वह विद्वान् इस शरीर को छोड़कर विदेह मुक्ति को प्राप्त होता है, अविद्या का लेश भी सत् ब्रह्म में लय रूप नाश को प्राप्त होता है तब प्रपञ्च त्याग कर आभास शुद्ध रूप में लीन होता है ॥३१॥ जैसे सरिता अपने देश को छोड़ कर समुद्र में जा मिलती है, वैसे ही चिदाभास निरुपाधि होकर निज विशेप स्वरूप को चिन्मात्र ब्रह्म में मिला देता है। इस प्रकार चित्स्वरूप होकर उस अवशेष का ही भजन करता है। पीताम्बर जी कहते हैं कि उस शेष का फिर जन्म ही नहीं होता ॥३२॥

अब विस्तृत रूप से समझाते हैं—देहादि प्रपंच प्रतीत होते हुए भी ब्रह्मरूप से स्थित रहने का नाम जीवन्मुक्ति है। अविद्या की दो शक्तियाँ हैं—आवरण और विक्षेप, उनमें आवरण शक्ति का ज्ञान से नाश होने के कारण ज्ञानी को पुनर्जन्म की प्राप्ति नहीं होती। किन्तु प्रारब्ध कर्म के प्रभाववश जले हुए धान्य कण के समान विक्षेप शक्ति अर्थात् अविद्यालेश विद्यमान रहती है। इसी से जीवन्मुक्ति में प्रपंच की प्रतीति होती है। जैसे रस्सी के ज्ञान से सर्प की भ्रान्ति मिटने पर कम्प आदि भासते हैं, अथवा दर्पण का ज्ञान होने पर प्रतिबिम्ब और मरुस्थल के ज्ञानी को मृगजल भासता है, वैसे ही तत्वज्ञानी को जीवन्मुक्ति की दशा में बाधित हुए प्रपंच की प्रतीति होती है।

जैसे महाभारत युद्ध में द्रोणाचार्यजी की मृत्यु के पश्चात् अश्वत्थामा आदि के साथ जो युद्ध हुआ,

उसमें सत्य संकल्प श्रीकृष्ण ने संकल्प किया कि यह रथ और अश्व युद्ध समाप्त होने तक यथावत बने रहें। किन्तु अश्वत्थामा आदि ने ब्रह्मास्त्र, आग्नेयास्त्र आदि के प्रयोग से उनके रथ और अश्व को उसी क्षण भस्म कर डाला। फिर भी सारथी रूप श्रीकृष्ण के संकल्प के कारण रथ और घोड़े यथावत रहे आये और जब युद्ध समाप्त हुआ, तब अर्जुन और श्रीकृष्ण के उतरते ही रथ और घोड़े भस्म के ढेर बन गये। उसी प्रकार स्थूल शरीर रूप रथ में पाप-पुण्य रूप दो चक्र, तीन गुण रूप ध्वज, पाँच प्राण रूप बन्धन और दश इन्द्रिय रूप घोड़े हैं। शुभाशुभ शब्दादि पाँच विषय रूप मार्ग में बुद्धि रूप सारथी अहंकार रूप स्थान पर बैठ कर, प्रारब्धकर्म रूप संकल्प करके मन रूप लगाम खींचते हुए चले। वहां आत्मा रूप रथी (अर्जुन) वैराग्यादि साधन रूप शस्त्रों से सुसज्जित हो, रथारूढ़ होकर सत्संगति रूप रणक्षेत्र में पहुँचा। उसे गुरु अश्वत्थामादि

ने महावाक्यउपदेश रूप बाण से आहत किया तो तत्क्षण ज्ञान रूप अग्नि का उदय होकर देहादि प्रपंच रूप रथादि का बोध हो गया। फिर भी बुद्धि रूप सारथी श्रीकृष्ण के प्रारब्धकर्म रूप संकल्प के बल से शरीरादि का नाश न होकर, फिर भी प्रतीति होता है। यही बाधितानुवृत्ति कही गई है।

प्रपंच की प्रतीति—रहित ब्रह्मस्वरूप ले स्थिति अथवा प्रारब्ध कर्म के भोग से नष्ट हुए स्थूल, सूक्ष्म शरीर के आकार से परिणाम को प्राप्त हुए अज्ञान का चेतन में विलय विदेहमुक्ति कही गई है। प्रारब्ध कर्म के अन्त होने पर न्यून या अधिक अचेतनावस्था में ब्रह्माकार वृत्ति की असंभावना होते हुए भी सुषुप्ति के समान उस अचेतनावस्था में भी ब्रह्मविद्या के सस्कार में स्थित होने के कारण चैयन्य से अविद्यालेश का विलय होता है। जैसे अग्नि तृणादि को भस्म करके स्वयं भी भस्म या नष्ट होजाता है,

वैसे ही संस्कारारूढ़ चेतन से प्रपंच का नाश होकर स्वयं ज्ञान-संस्कार भी नष्ट होजाता है और फिर सङ्ग-रहित शुद्ध सच्चिदानन्द स्वप्रकाश स्वयं ब्रह्म अवशेष रहता है ।

—※—

पंचदश कला

वेदान्त प्रमेय वर्णन

ललित छन्द

जन तु जानि लै ज्ञेय अर्थ को,
सकल छेद सन्देह अनर्थ को।
मुगति कौन है हेतु ताहि को,
जनक बीच को कौन वाहि को ॥३३॥
विषय बोध को कौन जानिले,
प्रतक ईश को तत्व मानिले।
अहम् अर्थ को खूब सोचि ले,
तत् पदार्थ को शुद्ध खोजि ले ॥३४॥

परम आतमा एक मानि ले,
तहँ सदादि ऐश्वर्यं आनि ले।
सत चिदात्म सो सर्वदा अहै,
इस पीताम्बरो ज्ञान को गहै ॥३५॥

अर्थात्– हे श्रेष्ठ पुरुष ! तू ज्ञेय अर्थं को जान कर अनर्थं रूप सभी सन्देहों को काट डाल। मुक्ति क्या है ? उसका हेतु क्या है ? बीच के जन्म कर्मादि क्या हैं ? वेदान्तजन्य वोध का विषय है ? इन सव को जान कर प्रत्यक्ष ईश वो तत्व मानो और अहं शब्द के अर्थं को भले प्रकार सोच कर तत् पद के शुद्ध अर्थं को खोज लो। परमात्मा को एक मान कर सदादि रूप ऐश्वर्यं को प्राप्त करो। वह सत् चित् स्वरूप ब्रह्म और आत्मा सदैव अभिन्न है। पीताम्बर जी कहते हैं कि इस ज्ञान को ग्रहण करना चाहिए ॥३३-३५॥

मोक्ष का स्वरूप कार्य सहित अज्ञान रूप अनर्थ अर्थात् वन्धन की निवृत्ति तथा परमानन्द रूप ब्रह्म की प्राप्ति मोक्ष का स्वरूप है। ब्रह्म का और आत्मा एकता का अपरोक्ष ज्ञान मोक्ष का साक्षात् साधन है। निष्काम कर्म और उपासनादि अनेक मोक्ष के अवान्तर साधन हैं। आत्मा और ब्रह्म की एकता ज्ञान का विषय है।

देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अज्ञान और शून्य से भिन्न तथा अकर्त्ता, अभोक्ता, असंग, व्यापक और चेतना आत्मा का स्वरूप है। निष्प्रपंच, असंग, परिपूर्ण और चेतन ब्रह्म का स्वरूप है। सच्चिदानन्द, ऐश्वर्य-स्वरूप और सततविद्यमान यह ब्रह्म और आत्मा की एकता है। जीव और ब्रह्म के अभेद का निश्चय ज्ञान स्वरूप है। ब्रह्मनिष्ठ गुरु के मुख से महावाक्य के अर्थों का सुनना ज्ञान का साक्षात् अन्तरंग साधन है। विवेक, वैराग्य, शम-दम-उपरति-

तितिक्षा-श्रद्धा समाधान यह षडैश्वर्य, मुमुक्षता, तत् पद और त्वं पद के अर्थ का शोधन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन—यह ज्ञान के अन्तरंग साधन हैं। निष्काम कर्म और निष्काम उपासना आदि ज्ञान के बहिरंग साधन हैं। इस प्रकार सब मिलकर ज्ञान के प्रातः ग्यारह साधन माने जाते हैं।

---:※:---

षोडश कला प्रथम भाग प्रारम्भ

मंगलाचरण

चैतन्यं शाश्वतं शान्तं व्योमातीतं निरञ्जनम् ।
नादविन्दुकलातीतं तस्मै श्री गुरवे नमः ॥१

सर्वश्रुतिशिरोरत्नविराजितपदाम्बुजम् ।
वेदान्ताम्बुजमार्तण्डस्तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥२

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥३

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥४

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥५

अखण्डानन्दबोधाय शिष्यसन्तापहारिणे ।
सच्चिदानन्दरूपाय रामाय गुरवे नमः ।।६

श्रुतिषड्लिंग संग्रह

उपोद्घात कीर्तन

स्मृत्वाऽद्वैतपरात्मात्मशङ्करं परम गुरुम् ।
तात्पर्यसंविदे वक्ष्ये श्रुतिषड्लिङ्गसंग्रहम् ।।१

विषयासक्तिमानस्थ-मेयस्थसंशयभ्रमाः ।
चत्वारः प्रतिबन्धाः स्युर्ज्ञानऽदार्ढ्यस्यहेतवः ।।२

आद्यस्य विनिवृत्तिः स्याद् वैराग्यादिचतुष्टयात्
श्रवणेन द्वितीयस्य मननात्तार्त्तीयस्य च ।।३

ध्यानेन तु चतुर्थस्य विनिवृत्तिर्भवेद् ध्रुवम् ।
पूर्वपूर्वाऽनिवृत्त्या नैवोत्तरोत्तरनाशनम् ।।४

विषयासक्तिनाशेन विना नो श्रवणं भवेत् ।
ताभ्यां विना न मननं न ध्यानं तैर्विना भशेत्

अद्वैत परमात्मा रूप परम गुरु शंकर का स्मरण करके श्रुतियों के तात्पर्य के ज्ञान की प्राप्ति के लिये 'श्रूतिषड्लिग संग्रह' कहता हूँ । विषयासक्ति, प्रमाण-गत संशय, प्रमेयगत संशय और भ्रम अर्थात् विपर्यय—यह चारों ज्ञान की अदृढ़ता के हेतुरूप प्रतिवन्धक होते हैं । आद्य अर्थात् विषयाशक्ति,की निवृत्त विवेकादि चारों साधनों के द्वारा होती है, दूसरे अर्थात् संशय की निवृत्ति श्रवण से तथा तीसरे प्रमेय की निवृत्ति मनन से होती है । चौथे भ्रम की निवृत्ति निदिध्यासन से अवश्य होती है । किन्तु पूर्व-पूर्व की अनिवृत्ति से उत्तरोत्तर का निवारण नहीं होता । क्योंकि विषयासक्ति के नाश हुए बिना श्रवण नहीं हो सकता और विषयाशक्ति का नाश एवं श्रवण इन दोनों के विना मनन नहीं हो सकता तथा इन तीनों के विना निदिध्यासन नहीं हो सकता ॥१-५॥

स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात् ।
शाधनं प्रभवेत् पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम् ॥६
तत्सिद्धावुपसन्नः सद्गुरुं ब्रह्मविदुत्तमम् ।
ज्ञानोत्पत्यै महावाक्यश्रुतिं कुर्याद्वितन्मुखात् ॥७
तत्सिद्धौ द्वापरभ्रान्तिप्रहाणाय मुमुक्षुभिः ।
श्रवणमनाऽऽध्यानमनुष्ठेयं फलावधि ॥८॥
श्रवगस्य प्रसिद्धथंव भवत्तोऽन्त्ये तथा सति ।
द्वयोर्मूल तु श्रवण कर्तव्यं तद्धि धीधनैः ॥६
वेदान्तानामशेषाणामादिमध्यावसानतः ।
ब्रह्मात्मन्येव तात्पर्यमितिधीः श्रवणं भवेत् ॥

स्वशरीर विषयक वर्ण और आश्रम रूप धर्म एवं तपस्या के द्वारा या व्रतोपवासादि के सहित भजन, सर्व भूतों पर दया तथा सन्तोष आदि के द्वारा

पुरुष को वैराग्यादि चारों साधनों की प्राप्ति हो सकती है। उन चारों साधनों की सिद्धि होने पर ब्रह्मवेत्ताओं से श्रेष्ठ और निर्दोष गुरु को शरण में जाकर ज्ञान की उत्पत्ति के लिए उस गुरु के मुख से वेद में प्रसिद्ध महावाक्यों को सुने। उक्त श्रवण एवं श्रवण से उत्पन्न ज्ञान की सिद्धि होने पर भी यदि प्रमाण और प्रमेय से सम्बन्धित भ्रम और संशय शेष रहे तो उन दोनों की निवृत्ति के लिए भ्रम-संशय रहित अपरोक्ष ज्ञानरूप फल की प्राप्ति पर्यन्त मुमुक्षुजनों को श्रवण, मनन और निदिध्यासक करते रहना चाहिए। श्रवण की सिद्धि होने पर ही अन्त के दोनों अर्थात् मनन और ध्यान की सिद्धि होती है। ऐसा होने पर उन दोनों का मूल जो श्रवण है, बुद्धि रूप धन वालों के लिए वही प्रथम कर्त्तव्य है सभी वेदान्तों के आदि मध्य, अन्त में सर्वत्र ब्रह्मात्म विषयक तात्पर्य ही है। ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि श्रवण का ही फल हो सकती है ॥६-१०॥

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥११

वस्तुनः प्रतिपाद्यस्याऽऽद्यावन्ते प्रतिपादनम् ।
उपक्रमोपसंहारौ तदैक्यं कथितं बुधैः ॥१२

वस्तुनः प्रतिपाद्यस्य पठनं च पुनः पुनः ।
अभ्यासः प्रोच्यते प्राज्ञैः स एवाऽऽवृत्तिशब्दभाक्

श्रुतिभिन्नप्रमाणस्याऽविषयत्वमपूर्वता ।
कुत्रचित्स्वप्रकाशत्वमप्यमेयतयोच्यते ॥१४

श्रूयमाणं तु तज्ज्ञानात्तत्प्राप्त्यादिप्रयोजनम् ।
फलं प्रकीर्तितंप्राज्ञैर्मुख्यं मोक्षैकलक्षणम् ॥१५

वस्तुनः प्रतिपाद्यस्य प्रशंसनमथापि वा ।
निन्दा तद्विपरीतस्यह्यर्थवादःस्मृतो बुधैः ॥१६

वस्तुनः प्रतिपाद्यस्य युक्तिभिः प्रतिपादनम् ।
उपपत्तिः प्रविज्ञेया दृष्टान्ताद्या ह्यनेकधा ।१७

उपक्रम और उपसंहार की एक रूपता, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति यह छः प्रत्येक वेदान्त तात्पर्य के निर्णय में लिंग अर्थात् लक्षण हैं। इन छः लक्षणों का विवेचन यह है– (१) उपक्रम और उपसंहार–प्रकरण में प्रतिपादन के योग्य ब्रह्म-रूप अद्वितीय वस्तु का प्रकरण के आदि और अत में प्रतिपादन ही उपक्रम और उपसंहार है। उनमें आदि का प्रतिपादन उपक्रम और अन्त का प्रतिपादन उपसंहार है। ज्ञानीजन इनका ऐक्य कथन करते हैं। (२) अभ्यास – प्रकरण के प्रतिपादन करने योग्य अद्वितीय वस्तु का उस प्रकरण के मध्य में बार-बार पठन अभ्यास कहा जाता है, जो कि आवृत्ति भी कहलाता है। (३) अपूर्वता—प्रकरण से प्रतिपाद्य अद्वितीय वस्मु की श्रुति से भिन्न अथाँत् प्रत्यक्षादि

लौकिक प्रमाण से अविषयता ही अपूर्वता है। अथवा कहीं उस अद्वितीय वस्तु की स्वप्रकाशता भी अविषयतारूप हेतु से अपूर्वता कही गई है। (४) फल—प्रकरण से प्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु के ज्ञान से प्रकरण में श्रूयमाण अर्थात् सुना जाने योग्य के प्रयोजन को विज्ञजन एक लक्षण वाला मोक्ष स्वरूप मुख्य फल कहते हैं। (५) अर्थवाद—प्रकरण सें प्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु की संस्तुति और उससे विपरीत वस्तु की निन्दा को पंडितों ने अर्थवाद कहा है। (६) उपपत्ति प्रकरण सें प्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु का युक्ति से प्रतिपादन, जो अनेक दृष्टान्तादि की युक्ति रूप उपपत्ति कहलाती है ॥११-१७॥

एतल्लिङ्गविचारेण भवेत्तात्पर्यनिर्णयः।
तात्पर्यं यस्य शब्दस्य यत्र स स्यात्तदर्थकः ।१८

मन्दानां श्रुतिसंसिद्ध्या मानसंशयनुत्तये।
करोम्यवनिनिक्षिप्तनिधिबल्लिङ्गकीर्तनम् ॥१९

तत्त्वालोके विशेषोऽपि विचारस्तत्प्रदर्शनात् ।
मया त्वेषां समासेन क्रियते दिक्प्रदर्शनम् ।।२०

सर्वेषूपनिषद्गम्येषूपासनमनेकधा ।
ज्ञानशेषस्तु तज्ज्ञेयश्चित्तशुद्धिकरं यतः ।।२१

उक्त प्रकार षट्लिंगों के विचार से अभिन्न ब्रह्म में जो तात्पर्य है, उसका निश्चय होता है तथा जिस शब्द का जिस अर्थ में तात्पर्य होता है, वह शब्द उसी अर्थ वाला होता है। मन्दों अर्थात् अज्ञानियों के अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य के निश्चय रूप श्रवण की सिद्धि द्वारा उसके प्रमाण विषयक संशयों के निवारणार्थ भूमि में गाढ़े हुए धन के समान गोपनीय लिंग का कीर्तन करता हूँ, जिस के सुनने से संशय मिट जाता है। यद्यपि आनन्दगिरि स्वामी कृत 'तत्त्वालोक' नामक ग्रन्थ में इन लिंगों का विशेष

विचार किया गया है। तथापि उस ग्रन्थ के अदर्शन से मैं इन लिंगों की दिशा मात्र का प्रदर्शन करता हूँ। सब उपनिषदों में अनेक प्रकार की उपासना का विधान किया गया है, उन्हें ज्ञान का शेष अर्थात् अङ्गों का उपकारक जानना चाहिए। क्योंकि उन उपासनाओं से चित्त की शुद्धि होती है, जिससे ज्ञान उत्पन्न होता है। उपनिषदों के उपासना भाग के पृथक् लिंगों के विचार का उपयोग न होने के कारण उनका विचार यहाँ किया है ॥१८-२१॥

ईशावास्योपनिषद्—लिंग कीर्तन

ईशावास्यमुपक्रम्योपसंहारः स पर्यगात् ।
अनेजदेकमित्याद्योऽभ्यासस्तस्याद्वयस्य च ॥१
नैनद्देवा अपूर्वत्वं फलं मोहाद्यभावकम् ।
कुर्वन्नित्यनुवाद्यं वाऽसुर्याभेदविनिन्दनम् ॥२

तस्मिन्नपोमातरिश्वेत्युपपत्तिः प्रदर्शिता ।
एतैरीशोपनिषदोऽद्वैते तात्पर्यमिष्यते ।।३।।

'ईशावास्यमिदं सर्वम्' अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् ईश्वर से आवास्य अर्थात् आच्छादन के योग्य है। इस प्रथम मन्त्र से उपक्रम करके 'स पर्यगाच्छुक्रे' अर्थात् वह सर्वत्र व्याप्त और शुद्ध है। इस मन्त्र से उपसंहार किया है। 'अनेजदेकं मनसो जवीयो' अर्थात् अचञ्चल एक मन से वेगवान है। इस आदि अर्थ रूप शब्द से अद्वैत का अभ्यास है। यहाँ आदि शब्द से 'तदन्तरस्य सर्वस्य' अर्थात् वह सब के अन्तर्गत है इस मन्त्र का ग्रहण है ।।१।। 'नैनद्देवा आप्नुवन पूर्वमर्षत्' अर्थात् इसे देवता (इन्द्रिय) नहीं प्राप्त कर सके, सो वह पूर्व गया है। क्योंकि यह मन आदि इन्द्रियों द्वारा पहले सर्व व्याप्त है। इस मन्त्र के द्वारा अन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अविषयता रूप अपूर्वता कथत हुई है। 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' अर्थात् उस एकता को देखने वाले

आत्मज्ञानी को कौन मोह और कौन शोक रह सकता है ? इस मन्त्र से मोहादि का अभाव रूप फल कहा है। ' कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा :' अर्थात् यहाँ कर्मों को करता हुआ सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। इस मन्त्र से जीवन की इच्छा वाले भेददर्शी को कर्म करने का अनुवाद करके ही 'असूर्यानाम ते लोका:' अर्थात् वे असुरों के लोक प्रसिद्ध हैं, इस मन्त्र से भेदज्ञान की निन्दा अर्थात् अभेदज्ञान की प्रशसा रूप अर्थवाद कहा गया है।२। तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' अर्थात् उसके होते वायु जल को धारण करता है। इस कथन से उपपति अर्थात् अभेद ज्ञान की युक्ति दिखाई गई है। इन लिंगों से ईशोपनिषद् का अद्वैत ब्रह्म में तात्पर्य स्वीकार किया गया है ।।३।।

केनोपनिषद्-लिंगकीर्तन

श्रोत्रस्येत्याद्युपक्रम्य पतिबोधादिवाक्यत: ।
कृतश्च ह्युपसंहार: विज्ञेयस्तु पण्डितै: ।।१।।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धीत्याद्यभ्यास उदीरितः ।
न तत्रेत्याद्यपूर्वत्व प्रेत्यास्मादिति वै फलम् ॥२
ब्रह्महेत्य!द्यर्थवादोऽविज्ञातमिति चान्तिमम् ।
एतैः केनोपनिषदोऽद्वैते तात्पर्यमिष्यते ॥३

'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' (श्रोत का क्षोत्र है) इस वाक्य से उपक्रम करके प्रतिबोधविदितम्' (बोध-बोध में आत्मा विदित है इत्यादि वाक्य से उपसंहार किया है। इन दोनों की एकरूपता पंडितों द्वारा जानने योग्य है ॥१॥ 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि' अर्थात् तुम उसी ब्रह्म को जानो, इत्यादि अभ्यास कहा है। न तत्र चक्षुर्गच्छति' उस ब्रह्म में चक्षु गमन नहीं करता। इत्यादि कथन उपनिषदों से भिन्न प्रमाण की अविषयता रूप अपूर्वता है। भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः' अर्थात् धीर सब भूतों में स्थिर ब्रह्म को जानकर इस अज्ञान मय जगत् से निवृत्त अर्थात् मुक्त होते हैं। यह फल कहा गया है ॥२॥ 'ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये' अर्थात्

ब्रह्म देवों के लिए विजय प्रदान करता हुआ, इत्यादि वाक्यों से आख्यायिकारूप अर्थवाद कहा गया 'यस्यामतं तस्य मतं अर्थात् जिसे अज्ञात है, उसे ज्ञात है, इत्यादिरूप इस स्वयंप्रकाश अद्वैत वस्तु के साधक वाक्य से उपपत्ति अर्थात् तर्कमय युक्ति रूप छठा लक्षण कहा गया। इन लिंगों से केनोपनिषद् का अद्वैत ब्रह्म में तात्पर्य अङ्गीकार हुआ है ॥३॥

कठोपनिषद्-लिंग कीर्तन

येयं प्रेते मनुष्ये त्वित्यादिःसामान्यतस्तथा ।
अन्यत्र धर्मतस्त्वित्यादिवाक्याच्चविशेषतः ॥१
उपक्रमोऽङ्गुष्ठमात्र इत्यारभ्योपसंहृतिः ।
न जायतेऽशरीरश्चनित्यानांनित्य एव सः ॥२
चेतनोऽचेतनानां च बहूनामेक एक एवच ।
अस्तीत्येवोपलब्धव्य इत्याद्यभ्यास ईरितः ॥३

'येयं प्रेते विचिकित्सा' अर्थात् मरे हुए मनुष्य के विषय में यह संशय है कि वह मरने पर है अथवा नहीं ? इत्यादि सामान्य रूप से उपक्रम है तथा 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृतात्' यानि धर्म से भिन्न और अधर्म से भिन्न तथा इस कार्य कारण से भी भिन्न जो ब्रह्म है, इत्यादि वाक्य से विशेष उपक्रम है ।।१।। 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा, अंगुष्ठ मात्र पुरुष अन्तरात्मा है, ऐसे आरम्भ करके उपसंहार है । 'न जायते म्रियते वा' न जन्मता है न मरता है तथा 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्' अर्थात् अस्थिर शरीरों में स्थिति अशरीर को, तथा 'नित्यो नित्यानां' वह नित्यों का भी नित्य है ।।२।। 'चेतनश्चेतनानानेको बहुनां विदधाति कामन्' चेतनों का चेतन तथा बहुतों के मध्य एक हुआ कार्यों को करता है तथा अस्तीत्येवोपलब्धव्य.' अर्थात् 'है' इस प्रकार ज्ञातव्य है, इत्यादि अभ्यास कहा है ।।३।।

नैव वाचा न मनसेत्याद्यपूर्वत्वमिङ्गितम् ।
मृत्युप्रोक्तांत्वेवमाद्यात्फलश्रुत्यासमीरितम् ॥४॥
स लब्ध्वा मोदनायं वै फलं प्रोक्तं स्फुटं तथा ।
ब्रह्मक्षत्रं च युगलमोदनं त्वैवमादितः ॥५॥
अर्थवादश्च युक्तिर्वै त्वग्निपित्यादिवान्यतः ।
एभिः कठोपनिषदोऽद्व ते तापर्त्यमिष्यते ॥६॥

'नैव वाचा न मनसा प्राप्तं शक्यों न चक्षुषा' वह वाणी,मन और नेत्र से भी नहीं जाना जा सकता, यह अपूर्वता है। 'मृत्यु प्रोक्तां नचिकेतोऽथलब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्' इत्यादि अर्थात् अनन्तर नचिकेता यम से कही इस विद्या और सब योग विधि द्वारा ब्रह्म को प्राप्त कर निर्मल मृत्यु-रहित हो गया। अन्य भी ऐसा ज्ञानी होगा वह अध्यात्म ब्रह्म को प्राप्त होगा, इत्यादि श्रुति वाक्त 'फल' कहते हैं। तथा 'स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा'

अर्थात् वह मोद रूप से अनुभव करने योग्य को प्राप्त कर आनन्द को प्राप्त होता है। इस वाक्य में भी स्पष्ट रूप से फल कहा है। यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः' जिसका ब्राह्मण क्षत्रिय दोनों ही ओदन होते हैं, इत्यादि से अर्थवाद कहा है। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' अर्थात् यहाँ नाना के समान देखता है सो मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है। इत्यादि वाक्यों से भेदज्ञान की निन्दा के रूप में अर्थवाद कहा है, उसका 'च' शब्द से सूचन किया है। 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव' अर्थात् जैसे एक अग्नि भुवन में प्रविष्ट होकर रूप-रूप के लिए प्रतिरूप होगया, इसी प्रकार सर्वात्मा ब्रह्म प्रतिरूप हुआ है। इत्यादि से युक्ति शब्द की वाच्य उपपत्ति कही है। इन लिंगों से कठोपनिषद का अद्वैत ब्रह्म में तात्पर्य अङ्गीकार हुआ है।।४-६।।

प्रश्नोपनिषद्-लिंग कीर्तन

ब्रह्मपरा हि वै ब्रह्मनिष्ठा इत्युपक्रम्य तत् ।
तान् होवाचैतावन्देवोपसंहापस्तदेकता ॥१॥
एतद्वै सत्यकामेति यत्तदभ्यास उच्यते ।
इहैवातः शरीरे तु सोम्यः चेत्याद्यपूर्वता ॥२॥
तं वेद्यं पुरुषं वेदेत्यादिः फलमुच्यते ।
तदच्छायमदेहमित्यादिभिः कथिता स्तुति ॥३॥
नदीसमुद्रदृष्टान्तादुपपत्तिः प्रदर्शिताः ।
एते प्रश्नोपनिषदोऽद्वैतेतात्पर्यमिष्यते ॥४॥

'ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणाः' अर्थात् ब्रह्म में परायण ब्रह्मनिष्ठ परब्रह्म का अन्वेषण करते हुए, इस प्रकार परब्रह्म का उपक्रम करके 'तान् होवाचैतावदेवाहमेतत्परंब्रह्म वेद नातः परमस्ति अर्थात् उन शिष्यों से गुरु ने कहा कि मैं इतना ही

-स परमब्रह्म को जानता हूँ, इससे परे नहीं। इससे उपसंहार करने से दोनों की एक लिंग रूपता है ।१। 'एतद्वै सत्यकाम! परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' हे सत्यकाम! यह ओंकार निश्चय ही परब्रह्म और अपर ब्रह्म है। 'यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं ब्रह्म' जो वह शान्त, अजर, अमृत अभय परब्रह्म है, इससे अभ्यास कहा है। 'इहैवान्तः शरीरे सोम्य! स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्ति' हे सौम्य! इसी शरीर के भीतर वह पुरुष है, जिसमें यह सोलह कलायें उत्पन्न होती हैं। इस वाक्य से शरीर में स्थित का ही उपदेश के विना अनुपलम्भ अर्थात् अप्रतीतरूप अपूर्वता कही है ।।२।। 'तं वेद्यं पुरुषं को जैसा है वैसा जानो, तुम्हें मृत्यु परिपीडित न करे, इत्यादि वाक्य से फल कहा है। 'तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य! स सर्वज्ञः सर्वो भवति' हे सोम्य! जो उस ज्ञान-रहित अशरीर, अलोहित, अक्षर ब्रह्म को जानता है, वह

सर्वज्ञ और सर्व स्वरूप होता है। इत्यादि ले अर्थवाद रूप स्तुति कही है ॥३॥ 'स यथेमा नद्यः स्यन्दमाना:' जैसे यह नदियाँ समुद्र में जाकर मिल जाती है, इस दृष्टान्त से परमात्मा से सोलह कलाओं की उत्पत्ति और विनाश के कथन से उपपत्ति दिखाई है। इन लिंगों से प्रश्नोपनिषद् का अद्वैत ब्रह्म में तात्पर्य स्वीकार किया है ॥४॥

मुण्डकोपनिषद्-लिंग कीर्तन

अथ परेत्युपक्रम्य यो ह वै परमं च तत् ।
ब्रह्मवेदेत्यादिवाक्यादुपसंहार ईरितः ॥१॥
आविः सन्निहितं चेति तदेतदक्षरं त्विति ।
अभ्यासो गृह्यते नैव चक्षुषेत्याद्यपूर्वता ॥२॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिरित्याद्यात्फलमीरितम् ।
यं यं लोकं व हेत्याद्यै रर्थवाद:प्रघोषितः ॥३॥

सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगा इत्यादिनोपपत्तिः प्रकाशिता ।
एतैर्मुण्डकतात्पर्यमद्वैतेऽङ्गीकृतं बुधैः ॥४॥

'अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रश्यमग्राह्यम्' अब परा विद्या को कहते हैं जिसका अक्षर है, वह अदृश्य एवं अग्राह्य है। इत्यादि से उपक्रम करके 'स यो हवै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' जो उस परब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है, इत्यादि वाक्य से उपसंहार कहा है ॥१॥ 'आविः सन्निहितं' अर्थात् प्रत्यक्ष और समीप है तथा 'तदेतदक्षरं ब्रह्म' वह यह अविनाशी ब्रह्म है। ऐसे यह अभ्यास कहा है। न चक्षुषा गृह्यते नैव वाचा' नेत्र या वाणी से ग्रहण नहीं होता, इत्यादि से अपूर्वता कही है ॥२॥ 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' उस परब्रह्म के अपरोक्ष करने पर हृदयग्रन्थि भेद को प्राप्त होती हैं, इस वाक्य से फल कहा है। 'यं यं लोकं मनसा सविभाति विशुद्ध सत्वः कामयते यांश्च कामान्' इत्यादि से निर्मल मन

वाला जिस जिस लोक को मन से देखता है और जिन-जिन भोगों की इच्छा करता है, उस-उस लोक और उन-उन भोगों को पाता है। इसलिए ऐश्वर्य की इच्छा वाले को आत्मज्ञान का चिन्तन करना चाहिए। इत्यादि वाक्यों से अर्थवाद कहा है ॥३॥ 'यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।' इत्यादि से जैसे प्रज्वलित अग्नि से हजारों विस्फुलिंग उत्पन्न होते हैं, वैस ही अक्षर से विविध पदार्थ उत्पन्न होते और वहीं लीन हो जाते हैं। इन वाक्यों से उपपत्ति प्रकट की है। इन लिगों से मुण्डकोपनिषद् का अद्वैत में तात्पर्य अङ्गीकार किया गया है ॥४॥

माण्डूक्योपनिषद्-लिंग कीर्तन

ओमित्येतदुपक्रम्यामात्र इत्युपसंहृतिः।
प्रपञ्चोपशमं शान्तिमित्याद्यभ्यास ईरित ॥१

अदृष्टमाद्यपूर्वत्वं संविशत्मात्यना फलम् ।
अवान्तरफलोक्तिस्तु ह्यर्थवादो विदां मतेः॥२॥
अद्वैते च प्रवेशायोपपत्ति पादकल्पना ।
माण्डूक्योपनिषद्भाव एवेमैरिष्यतेऽद्वये ॥३॥

ॐ मित्येक्षरमिदं सर्वम् यह ओ३म् अक्षर है, इस वाक्य से उपक्रम करके 'अमात्रश्चतुर्थोऽव्यत्रार्यः' अमात्र रूप चतुर्थ पाद है, इत्यादि वाक्यों से उपसंहार किया है। 'प्रपंचोपशमंशान्तन्' प्रपंच के लग का स्थान शान्त आनन्दरूप चतुर्थपाद है, यह अभ्यास कहा है ॥ १ ॥ 'अदृष्टमव्यवहार्यम्' अर्थात् अदृष्ट अव्यवहार का विषय हैं, इससे प्रमाणान्तर की अविषयता रूप अपूर्वता कही हैं । 'संविशत्यात्मनात्मानं स एवं वेद' अर्थात् आत्मा को इस प्रकार जानता है, वह निज स्वरूप से ब्रह्मात्म स्वरूप में प्रवेश करता है, यह फल कहा गया। 'आप्नोति ह वै सर्वान् कामात्' अर्थात् सब कर्मों को प्राप्त करता

है। इत्यादि वाक्यों से अवान्तर फल का कथन विद्वानों के मत में अर्थवाद है ॥२॥ अद्वैत ब्रह्म में प्रवेश के लिए जो चार पादों की कल्पना है, सो उपपत्ति अर्थात् युक्ति है। इन लिंगों से माण्डूक्योपनिषद् का भाव अद्वैत ब्रह्म में अंगीकार किया गया है ॥३॥

तैत्तरीयोपनिषद्-लिंग कीर्तन

ब्रह्मविदित्युपक्रम्य यश्चायं तूपसंहृतिः ।
तस्माद्वा इत्यथो वाक्यं, यदा ह्येवेतिचापरम्॥
भीषाऽस्मादित्यथोऽभ्यासोयतो वाचो ह्यपूर्वता ।
सोऽश्नुतेब्रह्मणा कामान् सहेत्यादि फलं श्रुतम्॥
अर्थवादोऽन्तरं कुर्यादुदरं भेदनिन्दनम् ।
गायन्नास्ते हि साम तदित्यादिर्विदुषः स्तुतिः॥

यतो भूतानि जायन्ते यत्सृष्ट्वेत्यादितोऽन्तिमम्।
त्तैत्तिरीयश्रुतेर्भाव एवंमीर्यतेऽद्वये ॥४।

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' ब्रह्मज्ञानी परब्रह्म को प्राप्त होता है। इस वाक्य से उपक्रम करके 'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः' वह जो इस पुरुष में और वह जो आदित्य में है, सो एक है। यह उपसंहार है। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ तथा 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने' इत्यादि से जब यह इस अदृश्य, अशरीर, अवाच्य, अनाधार में स्थित होता है, तब ब्रह्मानन्द को प्राप्त होता है। तथा 'भीत्याऽस्माद्वातः पवते' परमात्मा के भय से पवन प्रवाहित होता है, इन वाक्यों से अभ्यास है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' मन के सहित वाणी जिसे न पाकर निवृत्त हो, इस वाक्य से मन-वाणी से उपलक्षित सब प्रमाणों की अगोचरता

रूप अपूर्वता कही गई है। 'सोश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मात्मा विपश्चिता' वह ज्ञानी ज्ञान रूप ब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त हुआ सब कामनाओं को भोगता है। इन वाक्यों से फल कहा है। 'यदुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' जब यह अज्ञ भेद को करता है तब उसे भय होता है। इससे भेदज्ञान की निन्दा है तथा 'गायन्नास्ते हि तत्साम' इत्यादि में विद्वान् इस साम का गायन करता हुआ स्थिति हो। मैं भोग्य हूँ, मैं भोक्ता हूँ इत्यादि वाक्यों में विद्वान् की स्तुति है सो अर्थवाद है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' जिससे यह भूत उत्पन्न हुए हैं, तथा 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' उसका सृजन कर उसी में प्रवेश किया। इत्यादि कार्य-कारण अभेद बाधक वाक्यों से उपपत्ति कही है। इन लिंगों से तैत्तिरीयोपनिषद् का तात्पर्य अद्वैत में माना गया है ॥१-४॥

ऐतरेयोपनिषद्-लिंग कीर्तन

आत्मा वा इत्युपक्रम्योपसंहारस्तु चाग्निमे ।
प्रज्ञानब्रह्मवाक्येन महतोक्तो हि धीधनैः ॥१॥
स इमानसृजल्लोकान् स इक्षत सृजा इति ।
तस्मादिदन्द्र इत्यादिवाक्यैरभ्यास ईरितः ॥२ ।
स जात इत्यपूर्वत्वं प्रज्ञानेत्रं तदित्यपि ।
स एतेनेतिवाक्येन फलं स्पष्टमुदीरितम् ॥३॥

'आत्मा वा ~दमेक एवाग्र आसीत्' अर्थात् यह जगत् आगे आत्मा स्वरूप ही होता, इस प्रकार उप-क्रम करके प्रज्ञानं ब्रह्म, प्रज्ञान जीव ब्रह्म है, इन वाक्यों से उपसंहार कहा है ॥१॥ 'स इमाँल्लोकान सृजत्' उसने इन लोकों को रचा तथा 'स ईक्षते मे नु लोकालीकान्नु सृजा इति' यह लोकपाल हैं, इनके लिए सृजो और 'तस्मादिदन्द्रो ह वै नाम' इदं यानी ऐसा होने पर इदंद्र नाम है इत्यादि वाक्यों से

अभ्यास कहा है ॥२॥ 'सजातो भूतान्यभिव्यैक्षत' सो प्रकट होकर भूतों को स्पष्ट देखता हुआ, इस वाक्य से सब भूतों का प्राकट्य होने से उनकी अविषयता अथवा 'सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्' अर्थात् सब जगत् स्वप्रकाश चैतन्यरूप नेत्र वाला और प्रज्ञान में प्रतिष्ठित है। इस वाक्य से भी स्वप्रकाशता रूप अपूर्वता कही गई है। 'स एतेन प्रज्ञेनात्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्याऽमुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमतः समभवत्' सो ज्ञानी इस ज्ञान रूप से इस शरीरादि रूप लोक से पार जाकर उस मोक्ष रूप लोक में सब कामनाओं को प्राप्त करके अमृत होगया। इस वाक्य से स्पष्ट फल कहा है ॥३॥

ता एता देवताः सृष्टास्तथा गर्भे नु सन्निति ।
स्तुति युक्तिस्तु स इमानित्यारभ्य विदार्य सः ॥
एतं सीमानमित्यादि श्रुतिवाक्यात्प्रकीर्त्तिता ।
इमैरुक्तैस्तु षड्लिङ्गै रैतरेयश्रुतौ गतम् ॥५॥

तात्पर्यं ज्ञायतेऽद्वैते तन्निष्ठैर्वेदपारगैः ।
तथा मुमुक्षुभिः सर्वैः परिविज्ञेयमादरात् ।।६।।

'ता एता देवता सृष्टाः' वे ये इन्द्रियादि एवं उनके अभिमानी देवता उत्पन्न हुए और 'गर्भे नु सन्नवेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा' माता के गर्भस्थान में हुआ मैं इन देवताओं के सभी जन्मों को जानता हूँ। इन वाक्यों से अद्वैत परमात्मा की स्तुति रूप अर्थवाद कहा है। 'स इमाँल्लोकानसृजत्' उसने इन लोकों को रचा। यहाँ से आरम्भ करके स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत' वह इसी मस्तकगत सीमा को विदीर्ण कर इस द्वार के द्वारा शरीर में प्राप्त हुआ। इत्यादि वाक्य से श्रुति युक्ति ने अर्थात् उपपत्ति कही है। उक्त प्रकार इन षट्लिंगों से ऐतरेय श्रुति में अद्वैत ब्रह्म विषयक तात्पर्य है उसे वेदपारंगत ब्रह्मनिष्ठ जानते हैं तथा

सब मुमुक्षुओं को भी आदर सहित जानने के योग्य हैं ॥४-६॥

छान्दोग्योपनिषद्-लिंग कीर्तन

सदेवेत्युपक्रम्यैवैतदात्म्यमिदमित्यतः ।
उपसंहृतिरभ्यासो नवकृत्त्व उदीरितः ॥१
तत्त्वमसीतिवाक्यस्यावर्तनाद् बुद्धिमुत्तमैः ।
अत्रैव सोम्य ! सन्नेत्यपूर्वतोक्ता हि पण्डितैः॥२
तावदेव चिरं तस्येत्यादिवाक्यात्फलं स्मृतम् ।
तमादेशमुताप्रेक्ष्य इत्यादेः स्तुतिरीरिता ॥३
उपपत्तिर्यथा सौम्यैकेनेत्यादिनिदर्शनम् ।
एतैश्छान्दोग्यतात्पर्यं षष्ठेऽङ्ग! त्विष्यतेऽद्वये॥४

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' अर्थात् हे सोम्य ! 'सृष्टि से पूर्व एक अद्वितीय सत् ही था' ऐसे उपक्रम करके 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्' यह सब इस

सत्स्वरूप आत्मभावयुक्त है। इस वाक्य से उपसंहार हुआ है। 'तत्त्वमसि' वह ब्रह्म तू है, इस वाक्य से नौ बार पाठ करके पंडितों ने अभ्यास कहा है। 'अत्र वाव किल सत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति इस प्रकार हे सोम्य ! इस देह में आचार्य के उपदेश बिना सत्रूप ब्रह्म की विद्यमानता इन्द्रियों द्वारा नहीं जान सकता। यहीं विद्यमान सत् को गुरु के उपदेश रूप उपायों से जान। इस प्रकार विद्वानों ने प्रमाणान्तर की अविषयता रूप अपूर्वता कही है। 'आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' अर्थात् आचार्यवान् पुरुष सूक्ष्म तत्व का ज्ञाता है तथा उस ज्ञाता को भी तभी तक विदेह मुक्ति में विलम्ब है, जब तक कि प्रारब्ध के क्षय होने पर शरीर का अन्त नहीं हो जाता। तदन्तर वह सत्स्वरूप ब्रह्म को अवश्य प्राप्त कर लेता है। इत्यादि वाक्यों से फल कहा है। उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाऽश्रुतं श्रुतं भवत्यमतंमतमविज्ञातं विज्ञा-

त्वमिति' अर्थात् हे श्वेतकेतो ! क्या तू ने आचार्य से उस उपदेश को भी पूछा है, जिसके द्वारा न सुना भी सुना हुआ हो जाता है। मनन न किया हुआ मनन किया होता तथा न जाना, जाना हुआ होता है। इत्यादि वाक्यों से अर्थवाद रूप ज्ञान की स्तुति कही है। 'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्' अर्थात् हे सोम्य ! मिट्टी के एक गोले के ज्ञान से सब घटादि कार्य मृत्तिकामय जाना जाता है। इत्यादि वाक्यों में दृष्टान्त रूप उपपत्ति है। इन लिंगों से षष्ठ अध्याय गत छान्दोग्योपनिषद् का तात्पर्य अद्वैत में अंगीकार हुआ है ॥१-४॥

सप्तमाध्य-लिंग कीर्तन

शोकं तरति तद्वेत्त्युपक्रम्योपसंहृतिः ।
तस्य ह वेति वाक्येन तदैक्यमनुभूयताम् ॥५
अधस्ताच्च स एव स्यात्तथाऽथातस्त्वहङ्कृते।
आदेशश्च स्मृतोऽभ्यासोऽथात आत्मोपदेशभुक्

ऋगादिसर्वविद्यानामगोचरतयाऽऽत्मनः ।
अपूर्वता फलं पश्यो नैव मृत्युं हि पश्यति॥७
पश्यः पश्यति सर्वं हीत्यर्थवादः सुसूचितः ।
जातावाश्चात्मतःप्राणाऽऽदयोयुक्तिः प्रदर्शिताः॥८
छान्दोग्यश्रुतितात्पर्यं सप्तमाध्यायगं बुधैः ।
इष्यतेचाद्वये भूम्नि षड्भिर्लिङ्गैरिमैःस्फुटम्॥९

तरति शोकमात्मवित्' अर्थात् आत्मज्ञानी शोक से पार होता है। इस वाक्य से उपक्रम करने 'तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यतएवंमन्वान्स्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशा' उक्त प्रकार से जानने वाले और मनन करने वाले, विज्ञान युक्त उस आत्मा से प्राण तथा सब आशारूप जगत् होता है। इस से उपसंहार हुआ तथा उपक्रम और उपसंहार की एकता अनुभव योग्य है। 'स एवाधस्तात् स उपरिष्टात्' अर्थात् वह भूमा ब्रह्म ही नीचे और ऊपर है।

अथातोऽहंकारादेश एवाहमधस्तादहमुपरिष्टात् अर्थात् भूमा का अहंकार रूप से उपदेश है कि मैं ही रूप से नीचे और मैं ही ऊपर हूँ। अर्थात आत्मादेश एवात्मैत्राधस्तादात्मोपरिष्टात्'अवआत्मारूपसेउपदेश है कि आत्मा ही नीचे और आत्मा ही ऊपर हैं। स होवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि' नारदजी ने सनत्कुमार से कहा—हे भगवन् ! मैं ऋग्वेद पढ़ता हूँ। वहाँ आत्मा में ऋग्वेदादि सब विद्याओं की अपूर्वता कही है तथा 'न पश्यो मृत्युं पश्यति' ज्ञानी मृत्यु को नहीं देखता इत्यादि वाक्य से फल कहा गया है। सर्वं ह पश्य. पश्यति सर्वं माप्नोति सर्वं.' अर्थात् ज्ञानी सब को देखता तथा सब ओर से सब को प्राप्त करता है। इस प्रकार अर्थवाद कहा है। 'आत्मतः प्राण आत्मत आशा' अर्थात् आत्मा से प्राण और आत्मा से ही आशा है। इस प्रकार आत्मा की एकता का बोध कराने वाली युक्ति अर्थात् उपपत्ति दिखाई गई है। इस प्रकार सातवें अध्याय गत छान्दोग्य श्रुति का

तात्पर्य इन छः लिंगों द्वारा अद्वैत ब्रह्म में स्पष्ट अङ्गीकार हुआ है ।।५-९।।

अष्टमाध्याय-लिंग कीर्तन

य आत्मेत्युपक्रम्यैव तं वा यतमुपासते ।
इत्यादिनोपसंहार एष आत्मेतिवाक्यतः ।।१०
अभ्यासोऽपूर्वता ब्रह्मचर्येणेत्यादितः फलम् ।
पुनरावर्तते नैव स इत्यादिरवेरितम् ।।११
आख्यायिकार्थवादःस्यादिन्द्रस्यासुरस्वामिनः ।
अशरीरो वायुरभ्रमित्यादिर्युक्तिरीरिता ।।१२
छान्दोग्यश्रुतितात्पर्यमष्टमाध्यायगं त्विमैः ।
इष्यतेऽद्वय एवास्मिन्ब्रह्मण्येत्तत्प्रदर्शितम् ।।१३

'य आत्माऽपहतपात्मा' अर्थात् जो आत्मा पाप-रहित है, ऐसे उपक्रम करके 'तं वा एतं देवा आत्मा-नमुपासते' इस आत्मा की देवता उपासना करते हैं। इत्यादि वाक्य से उपसहार कहा है। 'एष आत्मेति

होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति' यह आत्मा, अमृत, अभय एवं ब्रह्म है। इस प्रकार अभ्यास कहा है। तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकः' अर्थात् जो इस ब्रह्मरूप लोक को ब्रह्मचर्य द्वारा प्राप्त कर लेते हैं उनको ही इस ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। आदि वाक्यों से अपूर्वता कही है। 'ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते, न च पुनरावर्त्तते' अर्थात् ब्रह्मलोक प्राप्त करके पुनरावृत्ति को नहीं प्राप्त कर-यानी पुनर्जन्म नहीं होता। इत्यादि वाक्यों से फल कहा है। इन्द्र और विरोचन की आख्यायिका अर्थवाद है। 'अशरीरो वायुरभ्रं विद्युतत्स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि अर्थात् वायु अशरीर है, मेघ, विद्युत, मेघगर्जन भी अशरीर हैं। इत्यादि अभेद में युक्तिरूप उत्पत्ति कही है। उक्त लिंगों से अष्टमाध्याय गत छान्दोग्योपनिषद् श्रुति का तात्पर्य इस अद्वैत ब्रह्म-में ही अङ्गीकार कर दिखाया है ॥१०-१३॥

———

बृहदारण्यकोपनिषद्-लिंग कीर्तन

प्रथमाध्यायलिंग कीर्तन

आत्मेत्येवेत्यादिवाक्यादुपक्रम्योपसंहृतिः ।
लोके आत्मानमेवोपासीतेत्यादिसमीरणात्॥ १

तदेतत्पदनीयं च चदेतत्प्रेय इत्यपि ।
वाक्यमारम्यसंप्रोक्तोऽभ्यासस्तस्यपरात्मनः ॥२

तदाहुर्यदितीराया अपूर्वत्वं समिङ्गितम् ।
य एवं वेद वाक्येन सर्वात्मत्वंफल स्मृतम् ॥३

तस्ताभूत्यै हि देवाश्च नेशते हेति वाक्यतः ।
अर्थवादोद्विरूपो वैप्रोक्तःश्रुत्यास्फुटोक्तितः ॥४

उपपत्तिः स एषो हि हेतिवाक्यात्स्मृतात्विमैः।
बृहदारण्यकाद्यस्याऽद्वैते तात्पर्यमिष्यते ॥५

'आत्मेत्येवोपासीत्' आत्मा को ऐसे ही जाने, इत्यादि वाक्य से उपक्रम करके 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' लोक को आत्मा के समान जाने, इत्यादि वाक्य से उपसंहार कहा है। 'तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मा' अर्थात् यह प्राप्त करने योग्य इस सब का आत्मा है तथा 'तदेतत्प्रेय पुत्रात्प्रेयो वित्तात् सो यह पुत्र से प्रिय और धन से प्रिय है। इस वाक्य को आरम्भ करके फिर दो बार 'अहं ब्रह्मास्मि' कह कर परमात्मा का अभ्यास प्रदर्शित किया है। 'तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते' अर्थात् सो कहते हैं कि जो ब्रह्मविद्या के द्वारा सर्वरूप होना मनुष्य मानते हैं। इस वाक्य से प्रमाणान्तर की अविषयता रूप अपूर्वता कही है। 'य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति' अर्थात् इस प्रकार 'ब्रह्म मैं हूँ' यह जानने वाला सर्व हो जाता है। यह फल कहा है। 'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते' उस ब्रह्मजिज्ञासु के ब्रह्म से अन्य देव नहीं होते, इत्यादि

वाक्य से अभेदज्ञान की प्रशंसा और भेदज्ञान की निन्दा प्रकट करने रूप अर्थवाद कहा है। 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' अर्थात् वह परमात्मा नखाग्र तक शरीर में प्रविष्ट हुआ है। इत्यादि वाक्य से उपपत्ति कही है। इन लिंगों से बृहदारण्यकोपनिषद् के प्रथमाध्याय का अद्वैत विषयक तात्पर्य कहा गया ॥१-५॥

द्वितीयाध्याय-लिंग कीर्तन

ब्रह्म तेऽहं ब्रवाणीति सामान्योपक्रमः स्मृतः।
व्येव त्वाज्ञापयिष्यामिविशेषोपक्रमस्त्वयम्॥६
य एषः पुरुषो विज्ञानमयस्तूपसंहृत्तिः।
सामान्यतो विशेषेण तदेतद् ब्रह्म चेत्यपि ॥७
सत्यस्य सत्यं चाथातआदेशो नेति नेति च।
स योऽयमिति चाभ्यासो वहुकृत्व उदीरितः॥८

विज्ञातारमरे केनेत्यादिनाऽपूर्वतामता ।
यत्र चास्य ह्यभूदोत्ममैवसर्वंचादितः फलम् ॥६
परादाद्ब्रह्म तं चैवाऽऽख्यायिकोबह्वाऽपि च ।
अर्थवादस्तूपपत्तिःर्णनाभ्याद्यनेकशः ॥१०
बृहदारण्यकस्यैव द्वितीयस्याद्वितीयके ।
तात्पर्यमिष्यतेप्राइ रेभिर्लिङ्गैःसमिङ्गतै ॥११

'ब्रह्म तेऽहं ब्रवाणोति' तेरे प्रति ब्रह्म का कथन करता हूँ, यह सामान्य उपक्रम है तथा 'व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामि' मैं तुझे ब्रह्म को समझाऊँगा ही, यह विशेष उपक्रम है। 'य एषः पुरुषो विज्ञानमयः' यह जो पुरुष विज्ञानमय है, यह सामान्य से उपसहार है तथा 'तदेतद्ब्रह्माऽपूर्वमनपरम्' यह ब्रह्म कारण और कार्य से रहित है। यह विशेष रूप से उपसंहार है। 'सत्यस्य सत्यम्' ब्रह्म सत्य का भी सत्य है तथा 'अर्थात आदेशो नेति नेति' इससे अब 'नेति नेति

अर्थात् जिसका अन्त नहीं है, ऐसा आदेश है और 'स योऽयमात्मेदमृतमिदंब्रह्मेद सर्वम्' सो जो यह आत्मा है यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। इस प्रकार अनेक वार कथन से अभ्यास कहा गया है। 'विज्ञातारमरे! केन विजानीयात्' अरे मैत्रेयि! विज्ञाता को कैसे जानें? इत्यादि वाक्यों से प्रामाणान्तर की अविषयता रूप अपूर्वता मानी गई है। 'यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्' जिस मोक्ष में विद्वान् को सर्व आत्मा ही हुआ, वहाँ किसस किसे सूँघे? इत्यादि वाक्य से निष्प्रपंच रूप से अवस्थित अद्वैतज्ञान का फल कहा है। 'ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद' अर्थात् ब्राह्मण जाति को जो आत्मा से भिन्न जानता है, ब्रह्म उसका पराभव करता है। इस प्रकार भेदज्ञान की निन्दा और बहुत आख्यायिका भी अर्थवाद है। 'स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्ति' अर्थात् जैसे अकेला ऊर्णनाभि तन्तु रच कर ऊपर को गमन करता है

तथा जैसे अग्नि से उसके तुच्छ अवयव रूप अनेक स्फुलिंग उड़ते हैं, इत्यादि वाक्यों जैसे अनेक दृष्टान्त उत्पत्ति रूप हैं। वृहदारण्यक उपनिषद् के दूसरे अध्याय का तात्पर्य इन लिंगों से अद्वितीय ब्रह्म विषयक अङ्गीकार किया गया है ॥६-११॥

तृतीयाध्याय-लिंग कीर्तन

यत्साक्षादित्युपक्रम्योपसंहारस्तु वाक्यतः ।
विज्ञानमित्यतं प्रोक्त आवृत्तिरेषते रवात् ॥१२
तं त्वौपनिषद चाहं पृच्छामीत्यपूर्वता ।
फलं परायणं चैतत्तिष्ठमानस्य तद्विदः ॥१३
यो वैतत्काप्यसूत्रं तंविद्याच्चेत्यादिनोऽपि च।
योत्रैएतच्चनज्ञात्वाऽक्षरंगार्गीतिचस्तुतिः ॥१४
एतस्य वा अक्षरस्येत्यादितो युक्तिरीरिता ।
तटस्थलक्षणास्योपन्यासेन परमात्मनः ॥१५

बृहदारण्यकश्रुत्याः तृतीयस्य समिष्यते ।
तात्पर्यमद्वये लिङ्गैरेभिस्तु परमात्मनि ॥१६

'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, इससे उपक्रम करके 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' ब्रह्म विज्ञान-आनन्दरूप है, इससे उपसंहार कहा है। 'एष त आत्मान्तर्य्याम्यमृतः' यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी एवं अमृत है, इस वाक्य से अभ्यास कहा है। 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' अर्थात् मैं तुमसे उस औपनिषद पुरुष को पूछता हूँ, इससे उपनिषद् की विषयता रूप अपूर्वता कही है और 'परायणं तिष्ठमानस्य तद्विद' यह ब्रह्म की अद्वैततत्व में स्थित तत्वज्ञानी की परमगति है। इस प्रकार फल कहा है। 'यो वै तत्काप्य ! सूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणमिति स ब्रह्मवित्' अर्थात् हे काप्य ! जो उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी को जानता है, वह ब्रह्मज्ञानी है तथा

'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिल्लोके जुहोति' हे गार्गि ! जो इस अक्षर ब्रह्म को न जान कर इस लोक में होम करता है, इत्यादि वाक्य से अभेदज्ञान की स्तुति और भेदज्ञान की निन्दा रूप अर्थवाद कहा है। 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्या चन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' अर्थात् हे गार्गि !इस अक्षर की आज्ञा में सूर्य चन्द्र नियमित रूप से स्थिर रहते हैं। इत्यादि वाक्यों से परमात्मा के तटस्थ लक्षण के द्वारा उपपत्ति कही है। इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीयाध्याय का इन लिंगों से अद्वितीय परमात्मा में तात्पर्य माना गया है ।।१३-१६।।

चतुर्थोध्याय-लिंग कीर्तन

इन्धश्च किमुपक्रम्याभयं स उपसहृतिः ।
सामान्यतो विशेषेण यत्रत्वस्येतिवाक्यतः ।।१७
तद् देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्।
इत्यादिवहुभिर्वाक्यैरभ्यासःस्पष्टमीक्ष्यते ।।१८

विज्ञातारमगृह्यो च न तं पश्यत्यपूर्वता ।
अथाऽकामयमानो य इत्यादि बहुभिःफलम्।। १९
मृत्योःस मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।
एते एतमु हैवेत्यादिवाक्याच्च स्तुति स्मृता।।२०

'इन्धो ह वै नाम' अर्थात् इन्ध ऐसा प्रसिद्ध नाम है, ऐसे सामान्य से 'किं ज्योतिरयं पुरुष इति' यह पुरुष किस ज्योति वाला है ? इससे विशेष उपक्रम करके और अभयं वै जनक ! प्राप्तोऽसि' हे जनक ! तुम अभय को ही प्राप्त होगये तथा 'स वा एष महाजन आत्मा' सो यह महान् और अजन्मा आत्मा है, ऐसे सामान्य से उपसंहार है तथा यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत' जहाँ इस ज्ञानी का सर्व आत्मा ही हो गया, इस वाक्य से विशेषरूप से उपसंहार है । तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' अर्थात् उस ब्रह्म रूप ज्योति की ज्योति, आयु और अमृतरूप से

सत्र देव उपासना करते हैं। इत्यादि वाक्यों से अभ्यास स्पष्ट होता है। 'विज्ञारमरे केन विजानीयात्' विज्ञाता को कैसे जानेगा ? और 'अगृह्यतो नहि गृह्यते' जिससे ग्रहण करने योग्य नहीं, इससे ग्रहण नहीं होता तथा 'न तं पश्यति कश्चन' उसे शास्त्र गुरु के उपदेश विना कोई नहीं देखता, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध प्रमाणान्तर की अविषयता रूप अपूर्वता कही है। 'अथाऽकामयमानो योऽकामो निष्काम:' जो कामना न करता हुआ बाह्य विषयों से अकाम एवं भीतर से भी निष्काम है, वह ब्रह्म होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है, इत्यादि वाक्यों से फल कहा है। 'मृत्यो: स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' जो यहाँ नाना के समान देखता है, सो मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है तथा 'एतमु हैवैते न तरत:' अर्थात् इस ज्ञानी को पुण्य-पाप नहीं व्यापते, इससे निन्दा-स्तुति रूप अर्थ कहा है ॥१७-२०॥

यद्वै तन्नेति प्राणस्य प्राणं कैव न वा अरे: ।
पत्यु: कामाय नैवायं पतिर्हि भवति प्रियः ।।२१
इत्यादिवाक्य जातेनोपपत्ति: प्रकीर्तिता ।
वृहदारयकश्रुत्याश्चतुर्थऽध्यायगं बुधाः । २२
तात्पर्यमद्वये षड्भिरेवेमैलिङ्गकैर्विदु: ।
अग्नेर्धूम इवेमानि लिङ्गान्यस्य परात्मन:।।२३
इति संक्षेपत: प्रोक्ता षड्लिङ्गानां विचारणा ।
दशोपनिषदां तद्वत्तामन्यास्वपि योजयेत् ।।२४
दोषोऽप्यत्रोपयुक्तत्वाद् गुण एवेति चिन्त्यताम् ।
मारग्रहणशीलैस्तु पितृभ्यां वालवाक्यवत् ।।२५

'यद्वै तन्न पश्यति' जहां सुषुप्ति में उस रूप को नहीं देखता और 'प्राणस्य प्राणमुत' प्राण के भी प्राण को जानते हैं तथा 'न वा अरे पत्युः कामाय पति: प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामास पति: प्रियो भवति'

अर्थात् अरे मैत्रेयि ! पति के काम-भोग के लिए पत्नि प्रिय नहीं होता, वरन् अपने काम-भोग के लिए पति प्रिय होता है। इत्यादि वाक्यों से ब्रह्मरूप आत्मा के बोध वाली युक्ति रूप उपपत्ति कही है। ज्ञानीजन वृहदारण्यक के चौथे भाग के अन्तर्गत निहित तात्पर्य को इन षट् लिंगों से जानने हैं जैसे अग्नि का लक्षण धूम होता है, वंसे ही यह ब्रह्म के निर्णायक लिग हैं। उक्त प्रकार संक्षेप में दश उपनिषदों के षट्‌लिंगों का विचार कहा गया है ऐसे ही अन्य उपनिषदों में भी विचार करना चाहिए। इस ग्रन्थ में कुछ दोष भी हैं, किन्तु उपयोगी होने से वे गुण ही हैं। इस प्रकार सारग्राही विज्ञजनों को वैसे ही विचार करना चाहिए, जैसे कि माता-पिता बालक के वाक्यों पर विचार करते हैं। २१-२५॥

———

षोडशकला द्वितीय भाग प्रारम्भ

वेदान्तपदार्थ संज्ञा वर्णन

अथवा

लघुवेदान्तकोश ॥१॥

ललित छन्द

निष्कलं निजं वेद ही वदे,
षटदशं कला ब्रह्म में नदे।
निरवयव जो निष्कलंक सो,
इकरसं सदा अंगता न सो ॥३४॥
हिरण्यगर्भ और श्रद्धया नभो,
पवन तेज कं भूमि इन्द्र भो।

मन अनाज औ शक्ति सत्तपो,
करमलोक नामामनूजपो ॥३७॥
षटदशं कला एहि जानि ले,
जड उपाधि को धर्म मानि ले ।
अनुगताश्रयो पुष्प सूत्रवत्,
निज चिदात्म पीताम्वरो ह्नि सत्॥३८

अर्थात्—वेद ही निज ब्रह्मरूप को निष्कल कहता और वही सोलह कलाओं को उस ब्रह्म में वताता है । उसके अनुसार भी निरवयव ब्रह्म निष्कलंक एवं एकरस रहता है, वह ब्रह्म अंगता को प्राप्त नहीं होता । हिरण्यगर्भ श्रद्धा, नभ पवन, तेज, कं(जल) भूमि, इन्द्रिय, मन, अनाज, शक्ति, सत् तप, कर्म, लोक, नाम, मनु का जप यह सोलह कलाएँ हैं, इन्हें जान कर जड़ एवं आत्मा के उपाधि रूप धर्म मानो । आत्मा को इसमें अनुगत, सत्र का आश्रय,

माला के पुष्पों में सूत्र के समान समझो। पीताम्बर जी कहते हैं कि निज चिदात्म ही सत्य है ।३६-३८।

द्विविध पदार्थ ।।ः।।

आत्मा को आश्रय करके वर्तमान स्थूलसूक्ष्म शरीर अध्यात्म है। तद्गत ताप (दुःख) अध्यात्म ताप है। मानस ताप को अधिताप और शरीरताप को व्याधि ताप कहते हैं। भ्रान्तिज्ञान और भ्रान्ति-ज्ञान का विषय अभ्यास भ्रान्तिज्ञान का विषय सर्पादि या देहादि प्रपंच अर्थाध्याय तथा भ्रान्तिज्ञ न ज्ञानाध्यास है।

असम्भव का ज्ञान असंभावना कहा जाता है। उसमें प्रमाणगत असम्भव का ज्ञान प्रम णगत असं-भावना तथा प्रमेयगत असंभव का ज्ञान प्रमेयगत असंभावना कहा गया है।

निज स्वरूप का अहंकार, देहादि अनात्मा का अहंकार अशुद्ध अहंकार, देहादि धर्म के उद्देश्य से

रहित केवल 'अहं' का स्फुरण सामान्य अहंकार तथा शरीरादि धर्म के उद्देश्य द्वारा 'अहं' जैसा स्फुरण विशेष अहंकार है। देहादि सहित चिदाभास और साक्षी का एकीकरण करके समूचे संघात में 'अहं' के सहित "मैं" हूँ ऐसा जो स्फुरण हो वह मुख्य अहंकार तथा व्यवहार काल में केवल शरीरादि युक्त चिदाभास में और परमार्थ दशा में केवल कूटस्थ मे 'अहं' युक्त करके जो 'मैं' हूं ऐसा स्फुरण हो वह दो प्रकार का अमुख्य अहंकार है।

वन, जाति अथवा जलाशय के समान एक बुद्धि का विषय समष्टि अज्ञान तथा वृक्ष, व्यक्ति या जल की बूँद के समान अनेक बुद्धियों का विषय व्यष्टि अज्ञान है। शुद्ध चेतन का आवरक मूल अज्ञान तथा घटादि अवच्छिन्न चेतन का आवरक ज्ञान तूलाज्ञान कहा जाता है।

अज्ञान के सामर्थ्य को अज्ञान की शक्ति कहते हैं। अधिष्ठान की आवरक जो अज्ञान में सामर्थ्य है,

वह आवरण शक्ति तथा प्रपंच और उसके ज्ञानरूप विक्षेप की जननी जो अज्ञान में सामर्थ्य है, वह विक्षेप शक्ति कहलाती है।

उपासना दो प्रकार की है—कारण ब्रह्म और कार्यब्रह्म की उपासना सगुण उपासना तथा शुद्ध ब्रह्म की उपासना निर्गुण उपासना है।

गन्ध दो प्रकार की है—सुगन्ध और दुर्गन्ध। अनेक धर्मियों में अनुगत एक धर्म को जाति कहते हैं 'घट है' इस प्रकार को सर्वत्र अनुगत सत्ता परश्रेष्ठ जाति तथा सत्ता से भिन्न घटत्व आदि जाति अपर (अश्रेष्ठ) जाति कहलाती है। व्यापक जाति के अन्तर्गत जो जाति हो, वह व्याप्य जाति, जैसे ब्राह्मण क्षत्रिय आदि। व्याप्य जाति से अधिक देश में स्थित जाति व्यापक जाति कहलाती है जैसे मनुष्य जाति।

निग्रह के दो प्रकार हैं—यम-नियमादि अष्टयोग के अङ्गों द्वारा क्रम से चित्त का निरोध क्रम निग्रह

तथा प्राणनिरोध रूप हठ से, सांभवो आदि मुद्राओं के मध्य किसी एक मुद्रा के अभ्यास से चित्त का निरोध हठनिग्रह कहा जाता है।

मोक्ष दो प्रकार का है—अनर्थ निवृत्ति और परमानन्द प्राप्ति। सन्यास के भी दो भेद कहे हैं—जिज्ञासा से ज्ञानप्राप्ति के लिए किया गया संन्यास विविदिषा संन्यास तथा ज्ञान के अनन्तर वासना तथा मन का क्षय और तत्वज्ञान के अभ्यास से जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द के लिए जो संन्यास किया जाय, वह विद्वत्संन्यास है।

वाह्य प्रपंच और आन्तर प्रपंच के भेद से प्रपंच दो प्रकार है। स्थित प्रज्ञा और अस्थित प्रज्ञा के भेद से प्रज्ञा दो प्रकार की है। लक्षण के दो भेद हैं-सतत विद्यमान हुआ व्यावर्तक लक्षण स्वरूप लक्षण तथा कभी-कभी होने वाला व्यावर्तक लक्षण तटस्थ लक्षण कहा जाता है।

अवान्तर वाक्य और महावाक्य के भेद से वाक्य दो प्रकार का है। प्रतिविम्बवाद और अवच्छेदवाद के रूप में वाद के दो भेद हैं। वर्णरूप शब्द और ध्वनि रूपशब्द के नाम से दो प्रकार के शब्द हैं। शक्तिवृत्ति और लक्षणावृति यह दो भेद शब्दसंगति के हैं। देवी संपत्ति और आसुरी सम्पत्ति, यह सम्पत्ति के भेद हैं। प्रमाण गत् संशय और प्रमेय-गत संशय के भेद से संशय भी दो प्रकार का है। सविकल्प और निर्विकल्प भेद से समाधि के दो भेद हैं। व्यष्टि, समष्टि के नाम से सूक्ष्म और शरीर स्थूल शरीर के भेद कहे गये हैं।

त्रिविध पदार्थ ।।३।।

इन्द्रिय (अध्यात्म), देवता (अधिदैव) और विषय (अधिभूत) यह तीन अध्यात्मादि हैं। मल-दोष (पाप), विक्षेपदोष चंचलता) और आवरण-दोष स्वरूप का अज्ञान यह तीनों अन्तःकरण के दोष हैं। अर्थवाद निंदा-स्तुति के बोधक वाक्य को कहते

हैं, यह तीन प्रकार का है—(१) अन्य प्रमाणों से सिद्ध अर्थ का बोधक वाक्य, जैसे शीत की चिकित्सा अग्नि है अनुवाद कहा जाता है। अन्य प्रमाण के विरुद्ध विधेय अर्थ के गुण द्वारा स्तावक वाक्य, जैसे यज्ञ का स्तम्भ सूर्य है, यह गुणवाद कहा जायगा। स्वार्थ में प्रमाणित लक्षणा से विधेयार्थ की श्लाघा का बोधक वाक्य भूतार्थवाद है।

बोध की अवधि, वैराग्य की अवधि और उपराम की अवधि के भेद से अवधि तीन प्रकार की है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के भेद से अवस्था तीन हैं। बुद्धि ज्ञानात्मा, महत्तत्व महानात्मा और शुद्ध ब्रह्म शान्तात्मा - यह तीन आत्मा हैं। स्थूल सूक्ष्म संघात रूप मिथ्यात्मा, पुत्र रूप गौणात्मा और साक्षी रूप मुख्यात्मा यह तीन भेद आत्मा के हैं। समाधि या सुषुप्ति में विम्बभूत आनन्द ब्रह्मानन्द, जाग्रत्-स्वप्न में विषय प्राप्ति रूप आत्म स्वरूप भूत आनन्द

का क्षणिक प्रतिविम्ब लेशानन्द और सुषुप्ति से उत्थानादि उदासीन दशा में जो आनन्दानुभूति है, वह वासनानन्द है। इस प्रकार आनन्द के यह तीन भेद हुए।

अन्धता आदि नेत्रादि के धर्म हैं, यह तीन प्रकार के हैं—(१) नेत्रों द्वारा सर्वथा स्वविषय का अग्रहण आनध्य कहा है, (२) इन्द्रिय द्वारा स्वविषय का स्वल्प ग्रहण मान्द्य, तथा (३) इन्द्रिय द्वारा स्वविषय का स्पष्ट ग्रहण पटुत्व कहलाता है।

नाम के कीर्तन को उद्देश्य, असाधारण धर्म को लक्षणा तथा पदकृति को परीक्षा कहते हैं। पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा-यह तीन ऐषणा हैं। मन वाणी और शरीर कर्म के साधन रूप का ण कहलाते हैं। करने के योग्य ज्ञानसाधन कर्तव्य, जानने योग्य ज्ञान का विषय ज्ञातव्य तथा प्राप्ति योग्य ज्ञान का मोक्षरूप फल प्राप्तव्य कहा जाता है। पुण्यकर्म, पाप-

कर्म और मिश्रकर्म के रूप में कर्म तीन प्रकार के हैं। अथवा संचित कर्म, क्रियमाण कर्म और प्रारब्ध कर्म के भेद से भी कर्म तीन प्रकार के होते हैं। वेदविहित कर्म को कर्म, वेद-विरुद्ध कर्म को विकर्म और वेद-विहित तथा वेदविरुद्ध दोनों प्रकार के कर्म के न करने को अकर्म कहते हैं।

पहिले से असत् वस्तु का करण से प्राकट्य होता है, वहाँ उपादान कारण से भिन्न कार्य का आरम्भ होने से न्यायशास्त्र के अनुसार यह आरम्भ वाद कहा गया है। कारण रूप से कार्य की विद्यमानता रहने से कारण कार्य रूप से व्यक्त होता है, यह परिणामवाद है। अद्वैत निर्विकार ब्रह्म में अधिष्ठान ब्रह्म से विषम सत्ता वाला अन्यथा रूप जगत् ब्रह्म का विवर्त अर्थात् कल्पित कार्य है। इसे वेदान्त में विवर्तवाद माना गया है।

भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीन काल और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्था हैं। वर्तमान जाग्रत् में

स्वरूप का साक्षात्कार जाग्रत्-जाग्रत् कहा गया है। जाग्रत् में भूतभविष्य के अर्थ का चिन्तन रूप मनोराज्य जाग्रत्स्वप्न तथा जाग्रत् में भ्रम से जडीभूत वृत्ति होना जाग्रत्-सुषुप्ति है।

साक्षी (कूटस्थ) चेतन को पारमार्थिक जीव, साभास अन्तःकरण रूप जीव को व्यावहारिक जीव तथा साभास अन्तःकरण रूप व्यावहारिक जीव में स्वप्न में अध्यस्त जीव को प्रातिभासिक जीव कहते हैं। जाग्रत् में त्रिदेह का अभिमान जीव विश्व, स्वप्न में स्थूल के अभिमान को त्याग कर सूक्ष्म और कारण देह का अभिमानी जीव तैजस् तथा सुषुप्ति में केवल कारण देह का अभिमानी जीव प्राज्ञ कहा जाता है।

स्थूल-सूक्ष्म शरीर में आधि-व्याधि रूप दुःख अध्यात्म ताप, दैवप्रकोप, अनावृष्टि आदि रूप दुःख अधिदैव ताप तथा हिंस्रजीव या चोरादि द्वारा प्राप्त दुःख अधिभूत ताप है। नादादि तीन हैं—नाद अर्थात् ओंकार, शब्दगुण अथवा परादि वाणी। बिन्दु

ओंकार का अलक्ष्य रूप तुरीयपद। कला - ओंकार की अकारादि मात्रा परावाणी रूप अङ्क। निवृत्ति के भी तीन भेद हैं—(१) भ्रमज की निवृत्ति- ज्ञान द्वारा भ्रान्ति के नष्ट होने पर भ्रमज तादात्म्य की निवृत्ति होती है, (२) सहज की निवृत्ति—सहज तादात्म्य का ज्ञान से वाध तथा ज्ञानी के शरीरपात के पश्चात् निवृत्ति होती है, (३) कर्मज की निवृत्ति- कर्मज तादात्म्य प्रारब्ध भोग के नष्ट होने पर ज्ञानी की निवृत्ति होती है।

उत्कृष्ट, मध्यम और सामान्य के भेद से पाप कर्म तीन प्रकार का है। इसी प्रकार पुण्य कर्म भी उत्कृष्ट, मध्यम और सामान्य के भेद से तीन हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण–यह तीन प्रपंच हैं। पूरक, कुम्भक और रेचक तीन व्यायाम तथा इच्छाप्रारब्ध अनिच्छा प्रारब्ध और परेच्छा प्रारब्ध—यह तीन प्रारब्ध हैं। विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर के रूप में ब्रह्म के तीन प्रकार हैं। उत्कृष्ट मिश्र, मध्यम

मिश्र और सामान्य मिश्र—यह तीन मिश्र कर्म हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव–यह तीन मूर्ति हैं। अव्याप्तिदोष–लक्ष्य के एक देश में लक्षण का वर्तना, अतिव्याप्ति-दोष-लक्ष्य के लिए व्याप्ति के अलक्ष्य में लक्षण का वर्तना, और असंभव दोष– लक्ष्य में लक्षण का न वर्तना। लोक तीन हैं–स्वर्ग, मर्त्य और पाताल। वादादि त्रय में गुरुशिष्य संवाद को वाद, युक्ति प्रमाणकुशल विप्रों का स्वमत मंडक और परमत खण्डक वाद को जल्प तथा मूर्खों के प्रमाण-रहित वाद को वितंडा कहते हैं।

विधि वाक्य तीन हैं–(१) अपूर्व विधि वाक्य—अलौकिक क्रिया का विधायक वाक्य, (२) नियम विधि वाक्य –प्राप्त दो पक्षों में एक का विधायक वाक्य, (३) परिसंख्याविधि वाक्य दो पक्षों में एक के निषेध का विधायक वाक्य। कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड और ज्ञानकाण्ड के भेद से वेद के तीन काण्ड

हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण यह तीन शरीर हैं। श्रवण, मनन, निदिध्यासन–यह तीन श्रवणादि हैं। प्रमाणसंशयनाश, प्रमेयसंशयनाश और विपर्यय नाश यह तींन श्रवणादि के फल हैं। संयोग, समवाय और तादात्म्य–यह तीन सम्वन्ध हैं। सुषुप्ति तीन प्रकार की है–सुषुप्ति जाग्रत्–सात्विक वृत्ति से सुख सुषुप्ति। सुषुप्ति स्वप्न–राजस वृत्ति से दुःख सुषुप्ति। सुषुप्त्यादि तीन हैं–सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि। स्वप्न के भी तीन प्रकार हैं–स्वप्न जाग्रत्–स्वप्न में सत्य अर्थ का दर्शन। स्वप्न-स्वप्न– स्वप्न में रज्जु सर्प की भ्रान्ति का दर्शन। स्वप्न–सुषुप्ति–दृष्ट स्वप्न का विस्मरण। हेत्वादि त्रय–हेतु, स्वरूप और फल, ज्ञातादि त्रय–ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, तथा ज्ञानप्रतिबन्धक त्रय संशय, असंभावना और विपरीत भावना ज्ञानादि त्रय-ज्ञान, वैराग्य और उपशम हैं।

चतुर्विध पदार्थ ।।४।।

जिसे जान कर अध्ययन में प्रवृत्ति हो उसे अनुवन्ध कहते हैं। यह चार प्रकार का है-(१) अधिकारी मल विक्षेप रहित मुमुक्षु, (२) विषय-ब्रह्म और आत्मा की एकता का प्रतिपादक (३) प्रयोजन-सब दुःखों की निवृत्ति और मोक्षप्राप्ति, (४) सम्वन्ध-ग्रन्थ और विषय का प्रतिपादक–प्रतिपाद्य रूप सम्वन्ध। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार यह चार अन्तःकरण एवं आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी यह चार आर्तादिभक्त हैं।

आश्रम चार हैं–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार और संस्कार यह चार क्रिया हैं। अध्यात्म विद्या, साधु संग, वासना त्याग और प्राणायाम यह चार चित्त निरोध युक्ति हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष यह चार पुरुषार्थ हैं। ब्रह्मनिष्ठ, मुमुक्षु, हरि का दास, तथा स्वधर्मनिष्ठ यह

चार पूजन के पात्र हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द यह चार प्रमाण हैं। ब्रह्मविदादि चार हैं– ब्रह्मवित्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मद्वरीयान, ब्रह्मविद्वरिष्ठ यह चार ब्रह्मज्ञानी हैं। जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वदेज यह चार भूतग्राम हैं। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा मैत्र्यादि हैं। शम सन्तोष, विचार और सत्सङ्ग यह चार मोक्ष के द्वारपाल हैं। वाणीलय, मनोलय, बुद्धिलय अहंकारलय यह चार योगभूमिका है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ण हैं। शमादि, श्रवण, मनन और निदिध्यासन यह चार वर्तमान ज्ञान प्रतिबन्ध निवृत्ति हेतु है। विषयाशक्ति, बुद्धि-मांद्य, कुतर्क, विषयाशक्ति यह चार वर्तमान ज्ञान प्रतिबन्ध हैं। विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षत्व यह चार विवेकादि हैं। ऋक्, यजुः, साम, अथर्व चार वेद हैं। जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध यह शब्द प्रवृत्ति के निमित्त हैं। कुटीचक, वहुदक, हंस और परमहंस यह चार संन्यास हैं। लय, विक्षेप,

काषाय, रसास्वाद समाधिविघ्न हैं शीत, उष्ण, कोमल और कठिन यह चार प्रकार का स्पर्श होता है।

पंचविध पदार्थ ॥१॥

प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अनन्याभाव, अत्यंताभाव सामयिका भाव यह पाँच अभाव हैं। माया अविद्या-रूप, ज्ञानक्रियाशक्ति रूप, विक्षेप आवरण रूप, समष्टि व्यष्टि रूप, कारण रूप यह पाँच अज्ञान हैं। नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनजय यह पाँच प्रकार के उपवायु हैं। नित्य, नैमित्तिक काम्य, प्राय-श्चित्त, निषिद्ध यह पाँच कर्म हैं। वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ गुद, कर्मेन्द्रिय तथा अन्नमय, प्राणमय, मनो-मय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोश हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवश यह पांच क्लेश तथा असत्, आत्म, अन्यथा, अख्याति अनिर्वचनीय यह पाँच ख्याति हैं।

जीवन्मुक्ति के प्रयोजन पाँच हैं—ज्ञानरक्षा, तप, विसंवादाभाव, दुःखनिवृत्ति और सुख प्राप्ति। शुक्ति में रजत का, रज्जु में सर्प का, स्थाणु में पुरुष का, गगन में नीलता का, मरीचिका में जल का यह पाँच दृष्टान्त हैं। शौच, सन्तोष तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान यह पाँच नियम हैं। नित्य, नैमित्तिक, दिन प्रलय, महाप्रलय और आत्यंतिक यह प्रलय के पाँच भेद हैं। प्राण अपान, व्यान, उदान, समान यह पाँच प्राणादि तथा जीव ईश्वर का भेद, जीव-जीव का भेद, जीव जड़ का भेद, ईश्वर जड़ का भेद, जड़-जड़ का भेद यह पाँच भेद हैं। भेदभ्रम. कर्तृत्व भ्रम सग भ्रम, विकार भ्रम, सत्यत्व भ्रम यह पाँच भ्रम तथा बिम्बप्रतिबिम्ब, लोहित स्फटिक घटाकाश, रज्जुसर्प और कनक कुण्डल यह पाँच भ्रम निवर्तक दृष्टान्त हैं। देव, ऋषि, पितर, मनुष्य और भूतयज्ञ यह पांच प्रकार के यज्ञ तथा अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह और अस्तेय यह पाँच यम हैं।

योगभूमिका पाँच हैं—क्षेप, विक्षेप, मूढ़, एकाग्र और निरोध। वचन, आदान, गमन, रति, मल त्याग यह पाँच वचनादि तथा शब्द, रूप, रूप, रस, गन्ध यह पाँच शब्दादि हैं। आकाश. वायु, तेज, जल, पृथ्वी स्थूल पंच भूत हैं। सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित यह पाँच हेत्वाभास तथा श्रोत्र. त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण पंच ज्ञानेन्द्रिय हैं।

षड्विध पदार्थ ॥६॥

अजिह्वत्व अनासक्ति, नपुंसकत्व (किशोरी और वृद्धा में समरूपता, पंगुत्व (एक दिन में एक योजन से अधिक न चलने वाला), अन्धत्व (एक धनुष से अधिक दृष्टि का न पहुँचना), बधिरत्व (व्यर्थ बात न सुनना), मुग्धत्व (व्यवहार में शून्यता) यह छः धर्म संन्यासी के हैं। जीव, ईश, ब्रह्म, अविद्या, चेतन-अविद्या सम्बन्ध और इनका भेद यह छः अनादि अर्थात् उत्पत्ति-रहित पदार्थ माने जाते हैं। काम,

क्रोध, लोभ, मोह मद और मत्सर यह छः परलोक-विरोधी आन्तरिक शत्रुसमूह है जिसे अरिवर्ग कहते हैं। शिशु, कौमार, पौगण्ड, किशोर, यौवन और जरा यह स्थूल देह की अवस्थाएँ हैं। समग्र ऐश्वर्य, समग्र धर्म, समग्र यश. सतग्र श्री, समग्र ज्ञान, समग्र वैराग्य यह छः ईश्वरीय ऐश्वर्य माने गये हैं, उत्पत्ति प्रलय, गति, आगति (लोक में आगमन का ज्ञान), विद्या और अविद्या यह छः ईश्वर हैं।

(ऊर्मि संसार सागर की लहरियों) के भी छ प्रकार हैं—जन्म, मरण, क्षुधा, तृषा, हर्ष और शोक। स्नान जप, होम अर्चन, आतिथ्य और वैश्वदेव, यह छः नित्यकर्म हैं। त्वक् मांस, रक्त, मेद, मज्जा और अस्थि, यह छः अन्नमय कोश (शरीर) में होने वाले पदार्थ हैं, जिन्हें कौशिक कहते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण अनुमान प्रमाण उपमान प्रमाण, शब्द प्रमाण, अर्था-पत्ति, प्रणाम, अनुपलब्धि प्रमाण के भेद से प्रमाण

छः प्रकार का है। कुल, गोत्र, जाति, वर्ण, आश्रय, और नाम यह छः भ्रम हैं। रस छः प्रकार के हैं— मधुर, आम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त।

वेदवाक्य के तात्पर्य के निश्चायक लिंग भी छः हैं—उपक्रम उपसंहार—आदि-अन्त की एकरूपता, अभ्यास—वारम्बार पठन अपूर्वता—अलौकिकता, फल–मोक्ष, अर्थवाद-स्तुति, उपपत्ति-अनुफूल दृष्टान्त। विकार के छः रूप हैं—जन्म, अस्तिता, वृद्धि विपरिणाम, अपक्षय और क्षय। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्ति, छन्द और ज्योतिष, यह छः वेदांग हैं। शमादि छः हैं, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान। सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व-मीमांसा और उत्तर मीमांसा, यह छः शास्त्र कहे हैं वाह्यदृश्यानुविद्ध समाधि, आन्तंदृश्यानुविद्ध समाधि वाह्यशब्दानुविद्ध समाधि.आन्तरशब्दानुविद्ध समाधि, वाह्य निर्विकल्प समाधि और आन्तर्निर्विकल्प समाधि. यह छः समाधि हैं। जैमिनीय, आश्व-

लायन, आपस्तम्व, वौधायन, कात्यायन और वैखानसी, यह छः सूत्र प्रसिद्ध हैं।

सप्तविध पदार्थ ॥७॥

नीचे के लोक सात हैं—अतल, वितल, सुतल. तलातल, रसातल, महातल और पाताल तथा ऊपर के भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपःलोक और सत्यलोक हैं। अज्ञान, आवरण, विक्षेप परोक्षज्ञान, अपरोक्षज्ञान, शोकनाश और तृप्ति, यह सात चिदाभास की अवस्था है। चेतन सात हैं—ईश्वर चेतन, जीवचेतन, निरूपाधिक शुद्धचेतन, अन्तःकरण में अवच्छिन्नप्रमाता चेतन, इन्द्रियजन्य विषय पर्यन्त गमन करने वाली प्रमाण रूप वृत्ति प्रमाण रूप चेतन, घटादि विषय से अवच्छिन्न प्रमेय चेतन तथा घटादि विषय विषयाकार प्रमावृति से अवच्छिन्न प्रमाचेतन है।

द्रव्यादि सप्त पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्, समवाय, अभाव और विशेष तथा सप्त धातु रस रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि और रेत। मौन, योगासन, योग, तितिक्षा, एकान्त शीलता, निःस्पृहहता और समता, यह सात मौनादि हैं। शुक्ल, कृष्ण, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र, यह सात रूप हैं। तन, मन, क्रोध, विषय, धन, राज्य और सेवा यह सात व्यसन हैं। शुभेच्छा, सुविचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी और तुरीयगा यह सात ज्ञान भूमिका कही जाती हैं।

अष्टविध पदार्थ ॥८॥

दया, शंका, भय, लज्जा, निन्दा, कुल, शील और धन, यह आठ पाश हैं। पच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, चारों अन्तःकरण, पंचप्राण, पंचभूत, काम, त्रिविध कर्म और वासना यह आठ पुर्यष्टक कहे गये हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मनन

बुद्धि, अहंकार, यह आठ प्रकृति, तथा स्त्रीदर्शन, स्पर्शन, केलि, कीर्तन, गुह्यभाषण, सकल्प, चिन्तन, निश्चय और क्रियासिद्धि यह अष्ट विधि मैथुन त्याग ब्रह्मचर्य के अङ्ग माने गये हैं। कुलमद, शीलमद, धनमद, रूपमद, यौवनमद, विद्यामद, तपमद और राज्यमद यह आठ मद प्रसिद्ध हैं।

मूर्तिमद भी आठ हैं—पृथिवीमद (पृथिवी के तत्वों का अभिमान), जलमद जल के तत्वों का अभिमान) तेजमद (क्षुधादि तेज तत्वों की अधिकता), पवनमद (चलन, धावनादि वायु तत्वों की युक्तता, आकाशमद काम-क्रोधादि आकाश तत्वों की सम्पन्नता), चन्द्रमद (शीतलतात्मक चन्द्रगुणों की युक्तता), सूर्यमद (सन्तापादि सूर्यगुणों की अधिकता) आत्ममद (विद्याधन कुलादि आत्म अभिमान की युक्तता)।

शब्द शक्ति ग्रहण के आठ हेतु हैं - व्याकरण, उपमान, कोश आप्तवाक्य, वृद्ध व्यवहार, वाक्यशेष,

विवरण और सिद्ध पर की सन्निधि। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और सविकल्प समाधि यह आठ अङ्ग अर्थात् साधन निर्विकल्प समाधि के प्रसिद्ध हैं।

नवविध पदार्थ ॥९॥

किसी महात्मा ने लिंगदेह के नौ तत्व माने हैं— श्रोत्र, त्वक् चक्षु, जिह्वा, घ्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, भोक्ता, भोग्य, भोग, कर्त्ता, करण और क्रिया के रूप नौ प्रकार का संसार माना गया है।

दशविध पदार्थ ॥१०॥

नाड़ी और उनके देवता दस हैं इडा, वामनासिकागत चन्द्र नाड़ी, जिसके देवता हरि हैं। पिंगला, दक्षिण नासिकागत सूर्य नाड़ी, जिसके देवता ब्रह्मा

हैं। सुषुम्ना या मध्यमा, नासिकागत नाड़ी, देवता रुद्र। गान्धारी, दक्षिण नेत्र की नाड़ी, देवता इन्द्र। हस्तिजिह्वा, वामनेत्र गत नाड़ी, देवता ईश्वर। यशस्विनी, वामकर्ण गत नाड़ी, देवता ब्रह्मा। कुहू, गुदा गत नाड़ी देवता पृथिवी। अलम्बुषा, मेढ् गत नाड़ी देवता सूर्य। शंखिनी, नाभिगत नाड़ी, देवता चन्द्र हैं। रस भी दस हैं- वीर, करुणा, अद्भुत, हास्य, भयानक, वीभत्स, रौद्र, शान्ति और प्रेम-भक्ति (ज्ञान रस)।

एकादशविधि पदार्थ ॥११॥

ज्ञान के ग्यारह साधन हैं–विवेक, वैराग्य, षट्, सम्पत्ति, मुमुक्षता, गुरुपसत्ति (गुरु की शरणागति) श्रवण, तत्वज्ञानाभ्यास, मनन, निदिध्यासन में नाश अर्थात् रज-तम गुण के नाश पूर्वक सत्य से प्राकट्य, जो कि ब्रह्माभ्यास की प्रवलता से संभव है तथा ग्यारहवां साधन वासना क्षय है।

द्वादशविध पदार्थ ॥१२॥

अनात्मा के बारह धर्म हैं—अनित्यत्व, वनाशित्व, अशुद्धत्व, नानात्व, क्षेत्रत्व- आश्रितत्व, विकारित्वं, परप्रकाश्यत्व, हेतुमानत्व, व्याप्यत्व संगित्व और आवृतत्व। किन्तु आत्मा के बारह धर्म इससे भिन्न हैं, अर्थात् नित्यत्व. अव्ययत्व, शुद्धत्व, एकत्व, क्षेत्रज्ञत्व, आश्रयत्व, अविक्रियत्व, स्वप्रकाशत्व, हेतुत्व, व्यापकत्व, असंगित्व और अनावृतत्व। ज्ञान, सत्य, शम, दम, श्रुत (शास्त्राभ्यास), अमात्सर्य, लज्जा, तितिक्षा, अनसूया, यज्ञ, दान और धैर्य अर्थात् काम-क्रोध के वेग को रोकना। महत्ताहेतु धर्म भी बारह हैं, यथा—धनाढ्यता, अभिजन (कुटुम्ब), रूप. तप, श्रुत (शास्त्राभ्यास) ओज (इन्द्रियों का तेज), तेज, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धि और योग।

त्रयोदशविध पदार्थ ॥१३॥

भागवत धर्म के तेरह भेद हैं-( ) सकाम कर्म के फल का विपरीत दिखाई देना, (२) धन गृह, पुत्रादि में दुःख-वृद्धि तथा चलबुद्धि, (३) परलोक में नश्वरता की बुद्धि, (४) शब्द ब्रह्म और परब्रह्म में कुशल गुरु के प्रति गमन, (५) गुरु में ईश्वर बुद्धि और निष्कपट सेवा, (६) परमात्मा में सव कर्मों का समर्पण, ७ भक्ति वैराग्य युक्त स्वरूपानुभवी रूप साधु संग, (८) शौच, तप, तितिक्षा और मौन (९) स्वाध्याय, आर्जव (सरल स्वभाव), ब्रह्मचर्य, अहिंसा, द्वन्द्व समत्व (शीतोष्णादि द्वन्द्व धर्म के सहन का स्वभाव, (१०) सर्वत्र आत्मारूप ईश्वर का दर्शन (११) कैवल्य (एकाकीपन), अनिकेतनता (घर न रखना) एकान्त वास और वस्त्रादि में सन्तोष, (१२) सव भूतों में आत्मा के भगवद्भाव देखना,

(१३) जन्म कर्म वर्णाश्रमादि द्वारा शरीराभिमान का त्याग तथा अपने-पराये की बुद्धि का अभाव।

चतुर्दश विध पदार्थ ॥१४॥

त्रिपुटी चौदह प्रकार की है—ज्ञानेन्द्रिय की त्रिपुटी के पाँच प्रकार, कर्मेन्द्रिय की त्रिपुटी के भी पाँच प्रकार तथा अन्तःकरण की त्रिपुटी के चार प्रकार हैं। इस प्रकार यह कुल चौदह हुए। इनके देवता और विषय भी चौदह-चौदह हैं। इन सबका विस्तृत वर्णन पहिले किया जा चुका है।

पंचदशविधि पदार्थ ॥१५॥

माया, अविद्या, प्रकृति, शक्ति, सत्या, मूला, तूला, योनि अव्यक्त, अव्याकृत, अजा, अज्ञान, तम, तुच्छा और अनिर्वचनीया, यह पन्द्रह नाम माया के ही हैं।

षोडशविध पदार्थ ॥१६॥

हिरण्यगर्भ, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, दशइन्द्रिय, मन, अन्न, वन्न, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम यह सोलह कला हैं। इनका वणन पहिले किया जा चुका है।

※ विचार चन्द्रोदय समाप्त ※

वेदान्त साहित्य

(हिन्दी अनुवाद सहित)

१. वेदान्त दर्शन	....	५ ७५
२. पञ्चदशी	....	१२)७५
३ योगवाशिष्ठ २ खण्ड	....	२०)००
४. विचार सागर	....	११)००
५. पञ्चीकरण	....	[illegible]
६ ब्रह्मसूत्र	....	१०)००
७. उपदेश साहस्री	....	५)७५
८. वृत्ति प्रभाकर	....	७ ५०
६ सौन्दर्य लहरी	....	४)७५

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब, वेद नगर, बरेली (उ० प्र०)

२

वेदान्त के महत्वपूर्ण ग्रंथ

१. योग वासिष्ट २ खण्ड ...

२. पञ्चदशी ... १

३. विचार सागर ...

४. ब्रह्म सूत्र ...

५. वृत्ति प्रभाकर ...

६. ... लहरी ...

७. पञ्चीकरण ...

८. विचार चन्द्रोदय ...

प्रकाशक :--

संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली